मध्यकालीन कृष्ण - भक्ति का स्रोत, स्वरूप एवं परम्परा

(1) पूर्व कथन :

'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की "भज्" धातु से हुई है; जो दो प्रकार से हुई बताई जाती है :-

(1) "भज्" धातु में स्त्रियाम क्तिन् सूत्र पाणिनि सूत्र (3/3/94) के अनुसार "क्तिन्" प्रत्यय लगाने पर "भक्ति" शब्द निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार "भक्ति" शब्द के अर्थ होते हैं - भाग, विभाग, अंश, अवयव, अंग एवं हिस्सा आदि। क्रिया के रूप में प्रयुक्त होने पर इसके अर्थ होते हैं - विभाजन करना, बाँटना, वितरण करना आदि।

(2) भक्ति शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति "भज्" धातु में "क्तिन्" प्रत्यय के योग से ही मानी गयी है, किन्तु यहाँ "भज्" धातु का अर्थ - सेवा, भजन, पूजा आदि लेकर - "भजनं भक्तिः", भज्यते अनया इति भक्तिः", भजन्ति अनया इति भक्ति आदि इसकी व्युत्पत्तियाँ दी जाती है। गरुड - पुराण में भी कहा गया है -

"भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः।
तस्मात्सेवा इति प्रोक्ता भक्तिः साधनभूयसी ॥

(अध्याय - 231)

इस व्युत्पत्ति के आधार पर भक्ति के अर्थ किए जाते हैं सेवा, पूजा, आराधना, उपासना, प्रेम, आसक्ति, अनुरक्ति, श्रद्धा, विश्वास, लगन आदि।

कतिपय योरोपीय विद्वानों ने भक्ति शब्द को वैदिक साहित्य में खोज निकाला है।[1] फिर इसके साथ उनका यह विचार भी है कि जिस अर्थ में यह "भक्ति"

1- डॉ० रतिभानुसिंह "नाहर" - भक्ति आन्दोलन का अध्ययन और =
देखिए - कल्याण भक्ति अंक - पृ० 534 - 540

मध्यकालीन[illegible]भक्ति साहित्य में प्रयुक्त हुआ है, उस अर्थ में समूचे वैदिक साहित्य में इसका प्रयोग नहीं हुआ । वैदिक साहित्य में इसके अर्थ हैं – भाग, विभाजित करना, बाँटना । वैदिक परम्परा के परवर्ती साहित्य में भक्ति शब्द का प्रयोग सेवा, पूजा, वन्दना, अर्चना, सुश्रुषा, स्वामी भक्ति, आस्था, देश प्रेम, राज-निष्ठा आदि अर्थों में हुआ है । ईश्वर के प्रति जिस "परम प्रेम"- सम्बन्ध को मध्य कालीन भक्ति साहित्य में "भक्ति" संज्ञा से अभिहित कराया गया है, उस अर्थ में इसका प्रयोग वैदिक परम्परा के प्राचीन वाङ्मय में कहीं नहीं देखा जाता । अतः "भक्ति" शब्द का इतिहास मध्यकालीन भक्ति के स्रोत खोज निकालने में निरापद आधार नहीं बन सकता ।

2) <u>भक्ति के स्रोत विषयक प्रचलित मान्यताएँ :</u>

अति सामान्य मान्यता के अनुसार भक्ति का प्रादुर्भाव दक्षिण भारत में हुआ और वह दक्षिण से उत्तर में लोक-धर्म के रूप में मान्य हुई –

"उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता ।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णता गता ।।"

– पद्मपुराण एवं भागवत् महात्म्य 2/4

हिन्दी के भी अधिकांश विद्वानों ने भक्ति की उत्पत्ति का क्षेत्र "द्रविड़ देश (तमिल – प्रान्त) माना है । दक्षिण भारत को भक्ति का मूलभूत क्षेत्र या जन्म स्थान मानने वाले विद्वानों को उनके मतान्तर के आधार पर मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है –

1- पहला वर्ग उन विद्वानों का है जो मानते हैं कि "भक्ति" का स्रोत अभारतीय है । दूसरे वर्ग में वे विद्वान आते हैं जिनका मत है कि – भक्ति का स्रोत भारतीय है ।

i) <u>अभारतीय स्रोत :</u> "भक्ति" के स्रोत को अभारतीय मानने वाले विद्वानों के भी दो भाग हैं (क) ईसाई धर्म, (ख) इस्लाम धर्म ।

§क§ अभारतीय स्रोत में पहले वर्ग में वे विद्वान आते हैं जो भक्ति को दक्षिण में उत्पन्न हुआ तो स्वीकारते हैं, किन्तु उसका मूल स्रोत ईसाई धर्म को मानते हैं । बेवर, ग्रीयर्सन एवं लूथर प्रभृति अंग्रेज विद्वानों का मत है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में ही भारत के दक्षिण तटीय-क्षेत्र में ईसाई चर्च की स्थापना हो चुकी थी । "सन् ईसवी की तीसरी शताब्दी में सीरिया के नेस्टोरियन ईसाइयों का एक दल मालाबार के किनारे आ बसा था । सन् 660 ई0 तक इनका कोई नियमित मठ नहीं था । चौदहवीं शताब्दी में इन्होंने बप्तिस्मा भी छोड़ दिया था । सैंट थामस पर्वत पर जो तीर्थ था, उसमें हिन्दू भी सम्मिलित होते थें । रामानुज का जन्म और शिक्षा-दीक्षा इसी पर्वत के समीपस्थ स्थानों पर हुई थी । इसलिए उनके ऊपर ईसाई भक्तिवाद का जबर्दस्त प्रभाव था । रामानन्द तो इस ईसाई प्रभाव के स्रोत का आकंठ पान कर चुके थे, इसलिए सारा भक्तिवाद ईसाइयों की देन है ।[1] ग्रियर्सन के अलावा बेवर और लासेन ने भी यह माना कि मध्यकालीन भक्ति उसी ईश्वर के प्रति प्रेम व समर्पण की पर्याय है जिसे क्रिश्चियनिटी में "डिवोशन" और "लव फॉर गॉड" कहते हैं । इस प्रकार ग्रियर्सन को ही नहीं, उनके पूर्ववर्ती अनेक पंडितों को भी यह संदेह हो गया कि मध्यकालीन भक्ति पर ईसाई धर्म का प्रभाव है, अथवा यह ईसाइयत की देन है । ग्रियर्सन मध्य युग के इस आन्दोलन §भक्ति§ के सम्बन्ध में कहते हैं - "बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त §अर्थात् पुराने धार्मिक मतों के§ अंधकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी । कोई

1- दे0 ग्रियर्सन - एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स जि0 3 पृ0 544 - 545

हिन्दू नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आयी, कोई भी इसके प्रादुर्भाव का काल निश्चय नहीं कर सकता, किन्तु वे सभी शास्त्रीय ग्रन्थ जो इस ‡भक्ति‡ के सम्बन्ध में लिखे गये हैं, और जिनका काल निश्चयपूर्वक बताया जा सकता है, ईसाई सन् के बहुत बाद लिखे गये हैं । इसलिए ग्रियर्सन इस नई बात का अनुभव कर सके और मान लिया कि मद्रास प्रान्त में आकर बसे नेस्टोरियन सम्प्रदाय के ईसाइयों से मध्यकालीन भक्ति ग्रहण की गई ।[1]

इस प्रकार उक्त विद्वानों ने मध्यकालीन भक्ति का प्रेरणा स्रोत मूल रूप से ईसाई धर्म को बताया है ।

‡ख‡ भक्ति का स्रोत अभारतीय मानने वाले वर्ग में दूसरा मत उन विद्वानों का है, जो भक्ति को इस्लाम से प्रेरित बतलाते हैं । डॉ0 ताराचन्द[2] एवं हुमायूँ कबीर[3] आदि विद्वानों का मानना है कि दक्षिण भारत में इस्लाम का अस्तित्व साहित्यिक मध्यकाल से पूर्व विद्यमान था । दक्षिण भारत से भक्ति का जो रूप उत्तर भारत में आया वह इस्लाम से प्रेरित है । इस्लाम में स्वीकृत अल्लाह ‡एक ईश्वर‡ के प्रति प्रेम व समर्पण का भाव ही मध्यकालीन भक्ति में पाया जाता है ।

इस प्रकार उक्त दोनों वर्गों के विद्वानों ने दक्षिण भारत के तटीय क्षेत्र में साहित्यिक मध्यकाल से पूर्व क्रमशः ईसाई-धर्म एवं इस्लाम धर्म का अस्तित्व सिद्ध करके मध्यकालीन भक्ति को ईश्वर के प्रति प्रेम व समर्पण ‡शरणागति‡ का भाव बताकर अपने अपने मत का प्रतिपादन किया है ।

1- दे0 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - सूर साहित्य - पृ0 80

2- विशेष के लिए देखें - इन्फ्लुएन्स ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर

3- विशेष के लिए देखें - हैरिटेज आफ इण्डियन कल्चर वाल्यूम-3

भक्ति के अभारतीय स्रोत विषयक उक्त मान्यताओं का न्यायसंगत एवं प्रमाणपुष्ट खण्डन हमारे पूर्ववर्ती विद्वानों, विशेषत: हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रभृति द्वारा किया जा चुका है । इन विद्वानों की मान्यताएं हमें ग्राह्य हैं ।

(ii) <u>भारतीय स्रोत</u> : जिन विद्वानों ने भक्ति का स्रोत भारतीय माना हैं उन्हें भी दो उपभेदों में विभक्त किया जा सकता हैं यथा -

(क) विद्वानों का एक वर्ग मानता है कि भक्ति ईसा से लगभग 600 वर्ष पूर्व से ही उत्तर में विद्यमान थी । उत्तर से वह दक्षिण गयी और फिर दक्षिण से पुन: उत्तर में आई ।[1] इन विद्वानों ने भक्ति को ईसा व मोहम्मद पैगम्बर के जन्म से पूर्व सिद्ध करते हुए उसे वैदिक साहित्य व परम्परा में खोजने का प्रयत्न किया । इन विद्वानों में डॉ० मुंशीराम शर्मा[2], आचार्य बलदेव उपाध्याय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं ।[3]

ध्यातव्य है कि जो विद्वान यह मानते हैं कि भक्ति अत्यन्त प्राचीन काल से उत्तर में विद्यमान थी और वहाँ से दक्षिण में गयी और पुन: दक्षिण से उत्तर में आयी, वे विद्वान भक्ति का स्रोत एक मात्र वैष्णव धर्म और उसकी प्राचीन परम्परा तक परिसीमित करके अपने मत की पुष्टि करते हैं । अर्थात् इनके अनुसार सात्वत्, पाँचरात्र, भागवत् आदि की परम्परा और उनका साहित्य ही भक्ति का स्रोत है । जिस किसी शास्त्र में "भक्ति" शब्द का प्रयोग हुआ हो, कृष्ण का उल्लेख

1- दे० - बलदेव उपाध्याय, भागवत् सम्प्रदाय ।
2- दे० - भक्ति का विकास
3- देखें - कल्याण "भक्ति अंक"

हुआ हो, विष्णु को मान्यता दी गयी हो, वहाँ सर्वत्र भक्ति विधमान रही ही होगी, इस प्रकार की दृष्टि अपना कर इन विद्वानों ने अपने निष्कर्ष निकाले हैं । जबकि भक्ति वैष्णवेतर सम्प्रदायों में भी प्राचीनकाल से ही स्वीकृत थी ।

साथ ही उल्लेख्य है कि वैदिक परम्परा से जिन विद्वानों ने मध्य-कालीन भक्ति को जोड़ा है, उन्होंने भक्ति का व्यापक अर्थ लिया है । वहाँ भक्ति का अर्थ किया गया है - "उपासना" । यदि हम इस व्यापक अर्थ को स्वीकार करें तो दुनिया का कोई भी धर्म, सम्प्रदाय "भक्ति" से रहित नहीं कहा जा सकता । और इस स्थिति में मध्य-कालीन भक्ति विशेषकर "कृष्ण भक्ति" का वैशिष्ट्य ही सुरक्षित नहीं रहता । अतः यह मान्यता भी ग्राह्य नहीं हो सकती ।

§ख§ भक्ति के स्रोत को भारतीय मानने वाले विद्वानों में दूसरा वर्ग उनका है जो मानते हैं कि भक्ति का स्रोत दक्षिण भारत का तमिल क्षेत्र है । आलवार भक्त इसके मूल प्रणेता हैं । भक्ति के मूलभूत चारों सम्प्रदाय §रामानुजाचार्य §श्री सम्प्रदाय§§, माध्वाचार्य §ब्रह्म सम्प्रदाय§, निम्बार्काचार्य §सनक सम्प्रदाय§ और विष्णु स्वामी §रूद्र सम्प्रदाय§ दक्षिणात्य हैं । इन्हीं आचार्यों, किन्तु विशेष रूप से रामानुज की शिष्य परम्परा में आने वाले स्वामी रामानन्द ने भक्ति के दोनों स्वरूपों §निर्गुण एवं सगुण§ का प्रचार उत्तर भारत में किया । उत्तर भारत के भक्ति के चारों या पाँचों मध्यकालीन सम्प्रदाय प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से दक्षिण के चारों सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं । इत्यादि ।

भक्ति के भारतीय स्रोत विषयक उपर्युक्त मान्यता भी सन्देह से परे नहीं है । इस प्रकार के निष्कर्षों को प्रमाणित करने वाले ऐतिहासिक प्रमाणों का अभाव है । उक्त प्रकार के निष्कर्ष या तो अनुमानाश्रित हैं अथवा कतिपय साम्प्रदायिक साहित्य में उपलब्ध उल्लेखों के आधार पर हैं, जिनकी ऐतिहासिकता सन्देह से परे नहीं है, जैसा कि हम आगे देखेंगे ।

3। भक्ति के प्राचीन व मध्यकालीन सम्प्रदाय तथा उनके सम्बन्धों पर पुनर्विचार :

1। श्री सम्प्रदाय और रामानन्दी सम्प्रदाय : विशिष्टाद्वैतवादी श्री सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक रामानुजाचार्य का जन्म 1017 ई0 में तेरूकुँदुर नामक ग्राम में हुआ था, जो कि मद्रास के समीप है ।[1] इनके मत में पदार्थ तीन हैं - चित्, अचित् तथा ईश्वर । चित् भोक्ता जीव है, अचित् से अभिप्राय भोग्य जगत से हैं, तथा ईश्वर से अभिप्राय हैं - अन्तर्यामी परमेश्वर । ईश्वर सदा चित् और अचित् से विशिष्ट है । रामानुजाचार्य के "श्री" सम्प्रदाय में लक्ष्मी तथा नारायण ॥विष्णु॥ की अर्चना का विधान प्रमुख है, किन्तु लक्ष्मी व विष्णु में से भी महत्वपूर्ण है - लक्ष्मी की अनुकम्पा । बिना उनकी अनुकम्पा के ॥मध्यस्थता के॥ ईश्वर की कृपा ॥भगवद्कृपा॥ की प्राप्ति सम्भव नहीं । जिस प्रकार बालक और पिता के बीच माता की उपस्थिति हर कृपा और क्षमा दान के लिए लौकिक व्यवहार में आवश्यक है, उसी प्रकार जगत् में भक्त एवं भगवान के बीच श्री ॥लक्ष्मी॥ का महत्व है । इस सम्प्रदाय में कर्म तथा ज्ञान का महत्व है । रामानुज की भक्ति में विशेष द्रष्टव्य वस्तु यह है कि इसमें विष्णु तथा नारायण नामों की ही प्रधानता है, यद्यपि व्यूहों के साथ वासुदेव का उल्लेख किया गया है । पर राम-कृष्ण आदि नामों का कोई महत्व नहीं है । राधा और गोपाल कृष्ण का कहीं कोई उल्लेख नहीं है ।[2]

रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय के साथ उत्तरी भारत में भक्ति आन्दोलन के प्रमुख प्रणेता माने जाने वाले रामानन्द का नाम प्रमुख रूप से आता है । सामान्य रूप से रामानन्द को रामानुज की शिष्य परम्परा में राघवानन्द का शिष्य माना जाता है । "भक्तमाल" में दी गई रामानुज की शिष्य परम्परा इस प्रकार है - रामानुज, देवाचार्य, हरियानन्द,

---

1- दे0 आचार्य बलदेव उपाध्याय, वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धांत - पृ0 157

2- डॉ0 रतिभानुसिंह "नाहर" भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ0 184

राघवानन्द और रामानन्द । आचार्य शुक्ल प्रभृति कुछ विद्वान इसे सम्पूर्ण न मानकर "रामार्चन-पद्धति" में दी गई शिष्य परम्परा को प्रामाणिक मानते हैं, जिसके अनुसार वे रामानुज से 14वीं पीढ़ी में आते हैं । भक्तमाल के "वार्तिक-तिलक" में रूपकला जी ने श्रीराम मंत्रराज की परम्परा इस प्रकार दी है - श्रीराम, जानकी, हनूमान, ब्रह्मा, वशिष्ठ, पराशर, व्यास, शुकदेव, पुरुषोत्तमाचार्य, सदाचार्य, रामेश्वराचार्य, द्वारानन्द, श्यामानन्द, श्रुतानन्द, चिदानंद, पूर्णानन्द, श्रियानन्द, हर्यानन्द, राघवानन्द और स्वामी रामानन्द ।

ध्यातव्य है कि इन शिष्य परम्पराओं में "भक्तमाल के देवाचार्य, हरियानन्द, राघवानन्द के नाम तो हैं, किन्तु रामानुज का नाम नहीं है ।

तदुपरान्त श्री रामानुज के श्री वैष्णव-सम्प्रदाय की जो मान्य गुरू परम्परा है, वह इस प्रकार है श्री नारायण, लक्ष्मी, विश्वक्सेन, शठकोप, बोपदेव, नाथमुनि, पुंडरीकाक्ष, राममिश्र, परांकुश यामुनाचार्य, पूर्णाचार्य और स्वामी रामानुजाचार्य । कहना न होगा कि इसमें और रामानंदी सम्प्रदाय की उपर्युक्त गुरू परम्परा में कोई साम्य नहीं है । इधर रामानन्दी सम्प्रदाय के विद्वान भी इस सम्प्रदाय को रामानुज सम्प्रदाय से जोड़ने की मान्यता का प्रबल विरोध कर रहे हैं । उनका मानना है कि रामानन्दी सम्प्रदाय एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय है, और रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है ।[1] कारण यह कि रामानन्दी सम्प्रदाय का जप-मंत्र अलग है, छापा-तिलक स्वतंत्र है । साथ ही यह कि रामानुज व रामानन्द के सम्प्रदायों में आराध्य देव, मंत्र, नाम और भाषा आदि का जो पार्थक्य है वह उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना

1- दे0 सम्पादक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामानन्द की हिन्दी रचनाएं - पृ0 42

यह कि रामानुज सम्प्रदाय में संन्यासी कोई विरले ही होते हैं, प्राय: सब गृहस्थ होते हैं (जबकि) इनमें (रामानन्दियों में) विरक्त रहने की ही चाल है । वे जटा, भस्मादि धारण नहीं करते, इनमें जटाभस्मधारी विरक्त भी देखे जाते हैं । उनमें प्राय: गद्दीधर आचार्य ही दीक्षा दिया करते हैं, इनमें सभी महात्मा । वे अन्य वैष्णवों को हेय समझते हैं, इनमें अन्यों के साथ सौहार्द रहता है, और खान-पान सेवा-सत्कार भी चलता है × × × × × । उनके मन्दिरों में शठकोप आदि के विधान ही अलग होते हैं, इनके यहाँ नहीं । इनके यहाँ स्वभावतया रामानन्द से इधर के गुरूवों की प्रधानता मानी जाती है, उधर वालों की उतनी नहीं ।[1] इत्यादि ।

उक्त शिष्य-परम्परा भेद से प्रकट है कि दोनों सम्प्रदायों में परम्परागत कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता । साथ ही दोनों के विचार एवं आचारगत भेद से स्पष्ट होता है कि दोनों सम्प्रदाय मूलभूत रूप से पृथक्-पृथक् है । दोनों सम्प्रदायों के मध्य ऐसी असंगतियाँ हैं जो उनकी एक ही परम्परा होने की अवधारणा को सिद्ध नहीं करती हैं । यों भी एक आचार्य का प्रमुख कार्य अपने पूर्ववर्ती समस्त दार्शनिक मतों को असिद्ध करके अपने स्वतंत्र मत की स्थापना करना होता है, अत: एक ही परम्परा में दो आचार्य नहीं हो सकते । ऐसा प्रतीत होता है कि अवैष्णव - रामानन्द - सम्प्रदायवालों ने स्वयं के लिए वैष्णव होने की मान्यता प्राप्त करने के विशेष उद्देश्य से रामानुज के साथ अपना वैसा ही बनावटी सम्बन्ध जोड़ा है जैसा कि गौड़ीय सम्प्रदाय ने माध्वाचार्य से और पुष्टिमार्गियों ने विष्णुस्वामी से । अन्यथा जैसे गौड़ीय सम्प्रदाय एवं पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय स्वतंत्र सम्प्रदाय हैं, वैसे ही रामावत (या श्रीसम्प्रदाय) भी है ।[2]

1- सम्पा० आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ - पृ० 42
2- डॉ० रामनाथ शर्मा, मध्यकालीन भक्ति-काव्य के पुनर्मूल्यांकन में उपयोगी सन्दर्भ - पृ० 27

इस प्रकार रामानुजी सम्प्रदाय से रामानन्दी सम्प्रदाय का विश्वसनीय आधार पर कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता ।

ii) **ब्रम्ह-सम्प्रदाय और गौड़ीय सम्प्रदाय** : द्वैत मत आधारित ब्रम्ह सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक मध्वाचार्य के समय के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है, किन्तु अधिकांश विद्वान सन् 1197 ई0 के आस-पास इनका जन्म स्वीकार करते हैं ।[1] इनके सम्प्रदाय (ब्रम्हसम्प्रदाय) के आदि आचार्य ब्रम्हा हैं । अतः इस सम्प्रदाय को ब्रम्ह सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त है । माध्व-सम्प्रदाय का विशेष प्रचार दक्षिण भारत में विशेष रूप से कर्नाटक तथा महाराष्ट्र प्रान्तों में हुआ । माध्व मत् में भगवान विष्णु अनन्त गुणों से सम्पन्न तथा सर्वोच्च शक्ति के प्रतीक हैं । वे विष्णु के शरीर से ही संसार की सृष्टि मानते हैं, अतः जीव विष्णु का दास है । जीव तथा ईश्वर दो अलग-अलग तत्व हैं । समस्त जीव भगवान विष्णु के अधीन हैं, अतः जीव को उन्हीं की आराधना कर मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए । तात्पर्य यह है कि भक्त को पूर्ण द्वैत की एकान्त आवश्यकता होती है, तभी वह मुक्ति के लिए आराध्य से प्रार्थना कर सकता है । माध्वाचार्य कट्टर द्वैतवादी थे । उनके मत में जीव व ईश्वर का भेद नित्य और स्वाभाविक है । साथ ही जीव और ईश्वर का सम्बन्ध दास और स्वामी का है ।

जिस प्रकार रामानन्द का "श्री" सम्प्रदाय (रामानुज) से सम्बन्ध जोड़ा जाता है, उसी प्रकार पूर्वी भारत के गौड़ीय सम्प्रदाय, जिसके प्रणेता चैतन्य महाप्रभु (15वीं शती) थे, का सम्बन्ध माध्वाचार्य से जोड़ा जाता है । जैसा कि कहा जा चुका है माध्वाचार्य ने द्वैतमत का प्रतिपादन किया था, जबकि चैतन्य का मूलाधार है - "अचिन्त्य भेदाभेद"। अर्थात् भगवान श्री कृष्ण परमतत्व हैं और उनकी अनन्त शक्तियाँ हैं । इनके अनुसार शक्ति तथा शक्तिमान में न भेद होता है, और न अभेद । इस मत में प्रेम को ही परम

1- डॉ0 रतिभानुसिंह नाहर, भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ0 172

पुरूषार्थ माना गया है । अतः यह प्रेमाभक्ति ही (धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष के अतिरिक्त) पाँचवा पुरूषार्थ है । माधुर्य भाव की रति तीन प्रकार की मानी जाती है -

(1) साधारणी रति

(2) सामञ्जसा रति

(3) समर्था रति ।

समर्था रति सर्वोपरि है, जिसका एक मात्र लक्ष्य भगवान का ही आनन्द है । उसके लिए भक्त मर्यादा का भी उल्लंघन कर सकता है । गोपीभाव इस रति का दृष्टान्त है और यह गोपीभाव ही अपने उत्कर्ष पर राधा भाव पर पहुँच जाता है ।[1]

माना जाता है कि माध्वाचार्य के सम्प्रदाय का बंगाल पर व्यापक प्रभाव पड़ा, जिसके फलस्वरूप बंगाल में गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय की परम्परा चली, किन्तु गौड़ीय सम्प्रदाय का व्यवहारिक पक्ष माध्व सम्प्रदाय से भिन्न है ।[2] गोपीभाव अथवा राधा भाव की उत्कृष्ठता भी माध्वाचार्य द्वारा प्रस्थापित नहीं है । इस प्रकार गौड़ीय सम्प्रदाय तथा माध्व सम्प्रदाय के चिन्तन एवं साधना पक्ष का अन्तर इतना स्पष्ट है कि दोनों के बीच कोई तात्विक सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता । किसी ऐतिहासिक परम्परा से भी दोनों के बीच किसी सम्बन्ध की पुष्टि नहीं होती ।

(iii) <u>रूद्र-सम्प्रदाय और पुष्टिमार्ग सम्प्रदाय</u> : दक्षिण भारतीय भक्ति की प्राचीन परम्परा में आचार्य विष्णु स्वामी के रूद्र-सम्प्रदाय का नाम प्रसिद्ध है । विष्णु स्वामी के विषय में भी इतिहास

1- दे0 डॉ0 हरबंशलाल शर्मा, भागवत दर्शन - पृ0 53

2- दे0 डॉ0 हरबंशलाल शर्मा, भागवत दर्शन - पृ0 24 पर

2

-कारों के समक्ष अभी तक कोई पुष्ट प्रमाण नहीं हैं । विष्णु स्वामी नामक चार आचार्यों का उल्लेख मिलता है -

§1§ दक्षिण भारत के पाण्डय राज्य के राजगुरू, देवेश्वर भट्ट के पुत्र, जिन्होंने वेदान्त सूत्रों पर "सर्वज्ञ सूक्त" नामक भाष्य लिखा था और ∮ 700 वैष्णव दण्डी संन्यासी जिनके मत का प्रचार किया करते थे ।

§2§ काँची निवासी राजगोपाल विष्णु स्वामी §830 ई0§, जिन्होंने काँची में श्री राजगोपाल देव द्वारा द्वारिका में रणछोर तथा सप्त नगरियों में से छः नगरियोंमें विष्णु की मूर्तियाँ स्थापित की थीं । लीलाशुक बिल्व-मंगल इन्हीं के शिष्य थे ।

§3§ वल्लभानुयायी वल्लभ आचार्य की गुरू परम्परा में भी एक विष्णु स्वामी हैं तथा

§4§ माध्वाचार्य तथा सायणाचार्य के गुरू श्री विद्याशंकर का दूसरा नाम भी विष्णु स्वामी था ।

इन चारों विष्णु स्वामियों के समीकरण के लिए अब तक कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका ।[1] कदाचित वल्लभमत में स्वीकृत विष्णुस्वामी तेरहवीं शताब्दी में हुए होंगे[2] जो कि द्रविड़ देश निवासी थे । वेद उपनिषद् स्मृतियाँ आदि के गहन अध्ययन के उपरान्त जिन्होंने आचार्यत्व प्राप्त किया था । विष्णु स्वामी के दार्शनिक सिद्धान्तों का परिचय देनेवाला ग्रंथ "सर्वज्ञ सूक्त" है, जिस पर श्रीधर ने टिका लिखी है ।[3]

1- डॉ0 रतिभानुसिंह "नाहर" - भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ0 173
2- डॉ0 रतिभानुसिंह "नाहर" - भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ0 173
3- डॉ0 रतिभानुसिंह "नाहर" - भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ0 173

13

कुछ लोगों की मान्यता है कि विष्णुस्वामी नृसिंह और गोपाल दोनों के उपासक थे, उनका दार्शनिक मत भी शुद्धाद्वैत का ही है ।[1]

भक्ति के प्राचीन आचार्य विष्णु स्वामी की परम्परा में वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत मत की गणना की जाती है । विष्णु स्वामी के रुद्र सम्प्रदाय को नवीन ढाँचे में ढालकर इसका नाम उन्होंने "शुद्धाद्वैत" रखा । इनके अनुसार भगवान श्रीकृष्ण स्वयं पूर्ण ब्रम्ह स्वरूप हैं । जब वे आत्मा में "आन्तरमण" करते हैं, तब वे आत्मानन्द कहलाते हैं और बाह्य रमण की इच्छा से जब-जब वे अपनी शक्तियों का प्रकाशन करते हैं तब वे पुरूषोत्तम कहलाते हैं और इसी रूप में वे आनन्दमय अगणितानन्द ~~कहलाते~~ और परमानन्द कहलाते हैं ।[2] भक्तों पर कृपा करने के लिए ही भगवान अपनी लीला करते हैं, लीला उनके विलास की इच्छा मात्र है -

"लीला नाम विलासेच्छा...... ।   (सुबोधिनी - भाग-3)

यद्यपि वल्लभाचार्य विष्णुस्वामी के रुद्रसम्प्रदाय की परम्परा में माने जाते हैं - किन्तु "वल्लभ स्वयं अपने मत के जन्मदाता के रूप में विष्णुस्वामी का कभी उल्लेख नहीं करते । वल्लभ के अनुयायियों में इस सम्बन्ध में मतभेद हैं कि वल्लभ ने विष्णु स्वामी के पदचिन्हों का अनुशरण किया अथवा नहीं । यह आग्रह किया जाता है कि जहाँ वल्लभ ने उपनिषदों के विशुद्ध अद्वैतवादी पाठों पर बल दिया और ब्रम्ह को अभेदात्मक, स्वयं से एकरूप व अपने गुणों से एकरूप माना, वहाँ विष्णुस्वामीनृ ने वेदान्त पाठों में निहित द्वैत पर बल दिया ।[3]

1- डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र "माधव", वैष्णव साधना और सिद्धान्त - हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव - पृ० 28

2- डॉ० हरिवंशलाल शर्मा, भागवत्-दर्शन पृ० 51

3- डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास "गुप्त", भारतीय दर्शन का इतिहास - पृ० 386

इस प्रकार वल्लभाचार्य और विष्णु स्वामी के चिन्तन में स्पष्ट भेद हैं । अत: वल्लभाचार्य को विष्णु स्वामी की परम्परा से जोड़ना भी शंका से रहित नहीं है । वल्लभाचार्य का दर्शन स्पष्ट रूप से विष्णुस्वामी के रूद्र सम्प्रदाय से नहीं जुड़ता ।

।V। सनक-सम्प्रदाय और राधावल्लभीय तथा हरिदासी सम्प्रदाय : द्वैताद्वैत मत के प्रणेता व सनक सम्प्रदाय के संस्थापक निम्बाकाचार्य के समय के विषय में अधिकांश विद्वानों ने 12वीं शती को मान्यता प्रदान की है । इनका जन्म वल्लरी जिले में निंबापुर नगर में हुआ बताया जाता है । निम्बार्क मतावलम्बी इनकी जन्मतिथि सन् 1114 ई0 स्वीकार करते हैं, ये तैलंग ब्राह्मण थे ।[1] निम्बार्काचार्य ने ब्रम्ह अ और जीव में द्वैत-अद्वैत दोनों सम्बन्ध स्वीकार किये । वे मानते हैं कि ब्रम्ह अविभक्त भी है और साथ ही अपने अनेक रूपों में वह सांसारिक माया का भी विस्तार करता है । अत: जीव ब्रम्ह से भिन्न भी है और अभिन्न भी । इसलिए इनका मत "द्वैताद्वैत" सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है । जब ईश्वर पदार्थों को अपने से अलग करता है तब वे ही पदार्थ जीव कहलाते हैं । जीव का कार्य मुक्ति प्राप्त करना है और मुक्त हो जाने पर वह पुन: ब्रम्ह में लीन हो जाता है । इस प्रकार जीव का ब्रम्ह के साथ भेद तथा अभेद दोनों है । इनसे पूर्व सभी आचार्यों का कर्मक्षेत्र दक्षिण भारत रहा, पर निम्बार्काचार्य ने उत्तरभारत को अपनी कार्य-भूमि बनाया और वृन्दावन में निवास करते हुए इन्होंने बारहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योग दिया ।[2] इस सम्प्रदाय में भक्ति के पाँचों भाव-शान्त दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्य दिखायी पड़ते हैं । राधा-कृष्ण की

1- डॉ0 रतिभानुसिंह "नाहर" - भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ0 171

2- डॉ0 रतिभानुसिंह "नाहर" - भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ0 171

15

उपासना यहाँ प्रमुख है । यहाँ श्री राधा को स्वकीया के रूप में स्वीकारा गया है । यह सम्प्रदाय युगलभाव से राधा-कृष्ण के किशोर रूप की उपासना करता है । किन्तु राधा यहाँ कृष्ण की पत्नी (स्वकीया) हैं ।

प्राचीन भक्ति के दक्षिण भारतीय आचार्यों में श्री हितहरिवंशजी के राधावल्लभीय सम्प्रदाय को कुछ विद्वान निम्बार्क तथा कुछ माध्व सम्प्रदाय से सम्बन्धित बतलाते हैं । हितहरिवंशजी का समय सन् 1502 - 1577 माना जाता है ।[1] राधा कृष्ण की युगल उपासना को इस सम्प्रदाय में महत्व दिया गया है, किन्तु कृष्ण की अपेक्षा राधा का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है, वह इनकी स्वामिनी हैं । सम्प्रदाय का नाम भी "राधावल्लभीय" राधा के महत्व का द्योतक है । "राधाई प्रधान माने पाछे कृष्ण ध्याइए" - कह कर प्रियादास ने यह प्रमाण प्रस्तुत किया है कि हितहरिवंशजी राधा को ही प्रधानता देते थे । किन्तु दोनों के चिन्तन में मूलभूत अन्तर भी हैं ।

एक मान्यतानुसार 16वीं शताब्दी में वृन्दावन का हरिदासी अथवा सखि-सम्प्रदाय भी निम्बार्क सम्प्रदाय की अवान्तर शाखा कहलाता है । इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी हरिदासजी थे । स्वामीजी प्रथमतः निम्बार्क (सनक सम्प्रदाय) मत के अनुयायी थे, परन्तु उन्होंने इस स्वतंत्र मत की प्रतिष्ठा की थी ।[2] कहना न होगा कि यह कथन भ्रामक है, क्योंकि स्वतंत्र मत की स्थापना करने पर व्यक्ति किसी पूर्व परम्परा का अनुयायी नहीं रहता । वह पूर्व परम्परा से अपना नाता तोड़ लेता है, और एक नये मत के प्रवर्त्तक के रूप में स्वयं को प्रतिष्ठापित कर लेता है । हमारे अध्ययन का सीधा सम्बन्ध उसके नये मत के प्रवर्त्तक होने की स्थिति से है । अतः ऐसे कथन किसी तथ्य के निर्णय में सहायक नहीं हो सकते ।

1- डॉ० रतिभानुसिंह "नाहर" - भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ०

2- आचार्य बलदेव उपाध्याय - वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त - पृ० 326

इस प्रकार हित हरिवंश जी का राधावल्लभीय सम्प्रदाय व हरिदास जी द्वारा प्रस्थापित सखि-सम्प्रदाय निम्बार्क सम्प्रदाय की परम्परा में माने जाते रहे हैं, किन्तु जैसा कि डॉ० विजयेन्द्र स्नातक अपने ग्रन्थ - "राधावल्लभ-सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य" में लिखते हैं - "यह सम्प्रदाय (राधावल्लभीय) अपनी साधना पद्धति, विचार भावना, सेवा-पूजा आदि में किसी सम्प्रदाय का अनुगत नहीं है ।[1] इसी प्रकार डॉ० हरवंश लाल इस सम्प्रदाय के बारे में लिखते हैं - "इस सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति से प्रतीत होता है कि यह भक्ति भावना अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की भक्ति भावना से स्वतन्त्र है ।[2] इस प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय से राधावल्लभीय सम्प्रदाय का कोई स्पष्ट व सीधा सम्बन्ध नहीं जुड़ता है ।

हरिदासी सम्प्रदाय के विषय में डॉ० स्नातक का मत है कि निम्बार्क सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अनुसरण करके स्वामी हरिदास ने अपना सम्प्रदाय चलाया किन्तु सखि सम्प्रदाय की साधना पद्धति में बड़ा मौलिक भेद है । स्वामी हरिदासजी के अनुसार सखि भाव से उपासना करने का विधान है जो कि निम्बार्क सम्प्रदाय में गृहीत नहीं होता । सखि-सम्प्रदाय भेदाभेद सिद्धान्त (निम्बार्क मत) का भी प्रत्यक्ष रूप से कहीं मण्डन नहीं करता x x x x टट्टी संस्थान वृन्दावन में इस सम्प्रदाय की जो शिष्य परम्परा और साहित्य उपलब्ध होता है, वह भी निम्बार्क सम्प्रदाय से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होता । जुगल सरकार को आराध्य मानने पर भी सखि-रूप से उनकी आराधना का विधान इस सम्प्रदायमें है, जो रसोपासना की दार्शनिक गूढ़ता से सर्वथा असम्पृक्त है ।[3]

1- राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य - पृ० 53
2- सूर तथा उनका साहित्य - पृ० 156
3- राधावल्लभ सम्प्रदाय-सिद्धान्त और साहित्य - पृ० 51 - 52

7

अतः राधावल्लभीय व हरिदासी सम्प्रदायों का निम्बार्क अथवा प्राचीन भक्ति परम्परा के आचार्यों से स्पष्ट अथवा असंदिग्ध सम्बन्ध स्थापित नहीं होता ।

इससे प्रकट होता है कि दक्षिण भारतीय प्राचीन भक्ति सम्प्रदायों से यद्यपि पश्चवर्ती मध्यकालीन भक्ति सम्प्रदायों ने स्वयं को जोड़ लिया किन्तु दोनों में अनेक असंगतियाँ हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं -

﴾1﴿ दक्षिण के प्राचीन सम्प्रदाय तथा इनके मतानुयायी भक्तों एवं साधकों और उत्तर के भक्ति सम्प्रदायों तथा उनके अनुयायी भक्तों एवं साधकों के बीच देश और काल तथा भाषा-भेद की खाई इतनी गहरी है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । एक मात्र निम्बार्क के विषय में यह उल्लेख मिलता है कि वे वृन्दावन में आकर रहे थे, किन्तु ध्यातव्य यह है कि जिस हरिदासी व राधावल्लभीय सम्प्रदायों से इनका सम्बन्ध जोड़ा जाता है वह न तो शिष्य परम्परा से सिद्ध होता है, न चिन्तनगत् साम्य से और न ही साधनागत साम्य से ।﴿ इस प्रकार दक्षिण के प्राचीन सम्प्रदायों के मतानुयायियों ﴾भक्तों﴿ और उत्तर भारत के भक्ति सम्प्रदायों के भक्तों के बीच परम्परागत सम्बन्ध किसी प्रमाण पुष्ट आधार पर स्थापित अब तक नहीं हो सके हैं ।

﴾2﴿ प्राचीन काल में एक मात्र संस्कृत ही ऐसी भाषा थी, जिसके माध्यम से धर्माचार्य आपसी विचार विनिमय कर सकते थे, इसलिए उत्तर व दक्षिण के भक्ति के आचार्यों के चिन्तन से थोड़ा बहुत साम्य ﴾प्रभाव﴿ हो सकता है । ध्यातव्य यह है कि भक्ति के आचार्य ﴾चाहे वे दक्षिण के हों या उत्तर के﴿ स्वयं भक्त नहीं थे ।

भक्ति के साधक अपनी-अपनी क्षेत्रीय भाषा ही जानते थे और बिना सिद्ध गुरु के भक्ति को पाया नहीं जा सकता था। ऐसी स्थिति में उत्तर व दक्षिण के भक्ति साधकों में किसी प्रकार के गुरु-शिष्य परम्परा के सम्बन्ध व्यवहारिक नहीं हो सकते थे।

§3§ किसी भी परम्परा में समान्तर रूप या समान महत्व के दो आचार्य नहीं हो सकते थे। आचार्य का पद §या सम्मान§ उसी व्यक्ति को प्राप्त होता था जो अपने पूर्व-वर्ती सभी मतों का खण्डन करके एक नये मत की स्थापना करने में सक्षम हो सकता हो। §इस प्रकार का खण्डन चाहे फिर प्रामाणिक हो या मनगढ़न्त§ स्पष्ट है कि जो दूसरे सभी मतों का खण्डन करके अपने नये मत की स्थापना करेगा, वह स्वयं को किसी का शिष्य क्यों स्वीकार करेगा ? और यदि वह शिष्य परम्परा में रहेगा तो स्वतंत्र मत की स्थापना कैसे कर पायेगा ?

§4§ उत्तर व दक्षिण के आचार्यों के मतों में जो अन्तर है, उसी से इनका पार्थक्य सिद्ध हो जाता है। क्योंकि जहाँ चिन्तन में भेद होगा वहाँ लक्ष्य में भेद होगा और जहाँ लक्ष्य-भेद होगा वहाँ मार्ग भेद भी होगा।

§5§ उत्तर के आचार्यों का दक्षिण के आचार्यों से अथवा उत्तर के भक्तों का दक्षिण के भक्तों से किसी भी प्रकार की प्रमाणपुष्ट सामग्री के आधार पर कोई सम्बन्ध असंदिग्ध रूप से स्थापित नहीं किया जा सकता। उत्तर के भक्ति सम्प्रदायों के साहित्य में पहले तो दक्षिण के सम्प्रदायों से कोई सम्बन्ध स्वीकार ही नहीं किया गया। परवर्ती साहित्य में इस प्रकार के सम्बन्ध का कोई उल्लेख किया गया है, उसके मूल में दो कारण हो सकते हैं - एक तो अपने सम्प्रदाय को प्राचीन सिद्ध करना दूसरे उसे शिष्ट समाज में वह स्थान दिलाना जो दक्षिण के सम्प्रदायों को प्राप्त हो गया था। अत: दक्षिण के किसी सम्प्रदाय से अपने सम्प्रदाय के सम्बन्ध बताने में इस प्रकार के उल्लेख विश्वसनीय नहीं हो सकते।

(6) उल्लेखनीय होगा कि भक्ति व्यक्तिगत साधना मार्ग है, जन सामान्य (गृहस्थ) के लिए उपयुक्त सामाजिक दृष्टिवाला धर्म नहीं है । अतः उसका प्रचार साधक वर्ग में स्वीकृत गुरू-शिष्य परम्परा तक ही सीमित होना चाहिए । उत्तर और दक्षिण के भक्तों में इस प्रकार की कोई शिष्य परम्परा सिद्ध नहीं होती ।

(7) उत्तर की भक्ति और दक्षिण की भक्ति में स्वरूपगत पर्याप्त अन्तर है । इस कारण भी दोनों की एकरूपता सिद्ध नहीं की जा सकती । यथा-दक्षिण की भक्ति में दास्य भाव है, द्वैत है । जहाँ तहाँ कर्म तथा ज्ञान का महत्व भी स्वीकार किया गया है । लोक मर्यादाओं का उल्लंघन वैध नहीं माना गया है । शक्ति और शक्तिमान के बीच वैवाहिक सम्बन्ध मान्य हुए हैं, गोपी-कृष्ण के उन्मुक्त प्रेम को प्रोत्साहन नहीं दिया गया है, जैसा कि उत्तर भारत की कृष्ण भक्ति में है ।

V) <u>निष्कर्ष</u> : इस प्रकार उत्तर की भक्ति दक्षिण से आयी अथवा दक्षिण की भक्ति का प्रतिफल है, इस प्रकार की प्रचलित अवधारणाओं का समर्थन नहीं किया जा सकता । दूसरी ओर हम यह कहने की स्थिति में भी नहीं है कि उत्तर की कृष्ण भक्ति सर्वथा नवीन साधना है, उसका किसी प्राचीन परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं है । जैसे हर वर्तमान का एक अतीत होता है वैसे ही उसकी कोई प्राचीन परम्परा निश्चित रूप से होनी चाहिए । इस प्राचीन परम्परा को खोज निकालने का हमारी दृष्टि से विश्वसनीय साधन एक ही हो सकता है और वह यह कि सर्वप्रथम मध्यकालीन कृष्णभक्ति के स्वरूप को उसके तात्विक रूप में समझ लिया जाय और तत्पश्चात् यह खोज निकाला जाय कि इस प्रकार की साधना पद्धति किस धार्मिक परम्परा में प्रचलित थी, फिर भले ही सम्प्रदाय भेद से उसका नाम "भक्ति" न रहा हो, और तब इस साधना परम्परा से मध्यकालीन कृष्ण भक्ति का सम्बन्ध खोज निकाला जाय । अतः हम आगे मध्यकालीन कृष्ण भक्ति के स्वरूप का निश्चय करने का प्रयास करेंगे ।

4। **भक्ति का स्वरूप :**

भक्ति के स्वरूप के निर्धारक सभी आकर ॥मान्य॥ ग्रन्थों - जैसे भागवत्-पुराण, नारद भक्ति सूत्र, शाण्डिल्य भक्ति सूत्र आदि में "भक्ति" को निम्नलिखित शब्दों में पारिभाषित किया गया है -

।॥ स वै पुंसां परोधर्मों यतो भक्तिधोक्षजे ।
अहैतुक्य प्रतिहता यथाऽत्मा संम्प्रसीदति ।। भागवत् पुराण - 1/2/6

॥॥ सा परानुरक्तिरीश्वरे - शाण्डिल्य भक्ति सूत्र - 2

॥।॥ सा परमप्रेमस्वरूपा - नारद भक्ति सूत्र - 2

अर्थात् उपर्युक्त तीनों परिभाषाओं में भक्ति को एक या दूसरे शब्दों में परम प्रेम स्वरूपा माना गया है ।

ध्यातव्य है कि इन सभी ग्रन्थों में कृष्ण भक्ति को स्वीकृत प्रेम के आदर्श स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए एक ही उदाहरण दिया गया है और वह है - "कृष्ण व गोपियों का प्रेम" ।

।॥ यथा व्रजवल्लभीनाम् - शाण्डिल्य भक्ति सूत्र - 2
॥॥ यथा व्रजगोपिकानाम् - नारद भक्ति सूत्र - 2
॥।॥ हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिका: - भागवत् महात्म्य - 2/18

इससे निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि कृष्ण भक्ति में स्वीकृत प्रेम का आदर्श स्वरूप "कृष्ण-गोपी प्रेम" जैसा है । अर्थात् युगल भाव का है । भक्ति विषयक जो परवर्ती शोध सामग्री अथवा आलोचनात्मक साहित्य प्रकाशित हुआ है, उसमें प्राय: सर्वत्र भक्ति को एक या दूसरे शब्दों में "प्रेमस्वरूपा" बताया गया है । इससे इतना निर्विवाद रूप से स्वीकार्य है कि भक्ति एक "राग-साधना" है और भक्ति के अन्तर्गत जिस रागतत्व का सहारा लिया जाता है, उसके स्वरूप के विषय

में उक्त ग्रन्थों में गोपी-कृष्ण की प्रीति के उदाहरण दिये गये हैं । अर्थात् गोपियों के कृष्ण के प्रति प्रेम को "भक्ति-भाव" का आदर्श रूप माना गया है ।

उल्लेख्य है कि मध्यकालीन कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण भक्ति को प्रेमस्वरूपा कहा है - यथा

I॥ पेमोपुमार्थों महान ॥प्रेम ही परम पुरूषार्थ है॥ - गौड़ीय सम्प्रदाय

II॥ प्रेम, प्रेम ते होइ, प्रेम तें पारहिं पैये ।
प्रेम बँध्यौ संसार, प्रेम परमारथ लहिये ।।
एकै निश्चय प्रेम कौ, जीवन मुक्ति रसाल ।
साँचौ निश्चय प्रेम को जेहि रे मिलैं गोपाल ।।

॥सूरदास - पुष्टि सम्प्रदाय॥

III॥ प्रेम भक्ति बिनु मुक्ति न होइ, नाथ कृपा कर दीजै सोई । ॥सूरदास॥

IV॥ घर-घर प्रेम भक्ति की महिमा, "व्यास" सबै पहिचानी ।
॥व्यासवाणी राधावल्लभ सम्प्रदाय॥

V॥ रागानुगा मार्गे तारे भजे जेइ जन ।
सेइ जन पाय ब्रजे ब्रजेन्द्रनन्दन ।। ॥चैतन्य चरितामृत॥

VI॥ प्रेम देवता मिले बिना, सिद्धि होइ न कारज - सखि सम्प्रदाय

VII॥ प्रेम लक्षणा भक्ति प्रेम प्रण पारिये ।
प्रेमी प्रेम पिछानि प्रेम उर धारिए ।। - सखि सम्प्रदाय

VIII॥प्यार ही की कुंज और प्यार ही की सैज रची,
प्यार ही सौं प्यारेलाल प्यारी बात करहीं ।
प्यार ही की चितवनी मुसकनि प्यार ही की,
प्यार ही सौं प्यारी जु कौं प्यारे अंक भरहीं । ॥ध्रुवदास राधावल्लभीय स0॥

§x§ प्रेम चाह रस सिन्धु में मगन रहत दिन रैन ।
उर सौं उर अधरनि अधर जुरे नैन सौं नैन ।।
§ध्रुवदास, राधावल्लभीय सम्प्रदाय§

इस प्रकार अन्तबाह्य प्रमाणों से सिद्ध होता है कि मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति "प्रेमस्वरूपा" है । अर्थात् मध्यकालीन कृष्णभक्ति एक विशेष प्रकार की "राग-साधना" है । और इस राग या प्रेम का स्वरूप "युगल-प्रेम" §गोपीभाव का प्रेम§ है ।

उल्लेखनीय होगा कि भक्ति का जो स्वरूप और लक्षण ऊपर दिये गये हैं, वे साध्य रूपा प्रेम लक्षणा भक्ति के हैं । शास्त्रों के अनुसार भक्ति के दो स्वरूप माने गए हैं - एक साधन रूपा व दूसरा साध्य रूपा । प्रथम को "नवधा", द्वितीय को "प्रेमलक्षणा" कहा गया है । प्रेम लक्षणा भक्ति का स्वरूप हम ऊपर दे चुके हैं आगे संक्षेप में नवधा का परिचय दे रहे हैं ।

<u>नवधा - भक्ति</u> : इसका कोई सर्वमान्य स्वरूप नहीं है । अर्थात् नवधा में परिगणित नौ अंग अलग-अलग ग्रन्थों में अलग-अलग गिनाए गये हैं । यहाँ तक कि एक ही विचारक या साधक ने नवधा के दो अलग-अलग रूप स्वीकार किए हैं । जैसे - तुलसीदास कृत"रामचरित मानस" में नवधा का निरूपण दो स्थानों पर अलग-अलग रूपों में हुआ है, किन्तु हम यहाँ कृष्ण भक्ति को ध्यान में रखकर "भागवत् पुराण" का आधार ले रहे हैं, जिसमें नवधा का निम्नलिखित स्वरूप माना गया है :

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।
§भागवत् पुराण - 7/5/23§

अर्थात् नवधा भक्ति के नौ अंग अथवा लक्षण ये हैं - §1§ श्रवण, §2§ कीर्तन, §3§ स्मरण, §4§ पादसेवन, §5§ अर्चन, §6§ वंदन, §7§ दास्य, §8§ सख्य और §9§ आत्मनिवेदन ।

मध्यकालीन प्रायः समस्त कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में नवधा भक्ति के इन्हीं अंगों को अपनाया गया है, जिस पर यथास्थान आगे प्रकाश डाला जायेगा ।

भक्ति के उपर्युक्त दो रूपों का निश्चय करने के उपरान्त हमने देखा कि "भक्ति" का आदर्श रूप - "प्रेम लक्षणा" का है । कहना न होगा कि जिस किसी पूर्व परम्परा में इस प्रकार की राग-साधना को स्वीकारा गया हो, वस्तुतः वही "भक्ति" का स्रोत हो सकता है । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए, अर्थात् मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति में स्वीकृत "प्रेम के स्वरूप" को ध्यान में रखकर जब हम साधना मार्ग की पूर्व-परम्पराओं पर दृष्टिपात करते हैं तो एक ही ऐसा साधना मार्ग दिखाई देता है, जिसका मध्यकालीन कृष्ण भक्ति से स्वरूपगत साम्य है, और यह साधना मार्ग है - "बौद्ध-तांत्रिकों की राग-साधना" । अतः हम आगे बौद्ध तांत्रिकों की रागसाधना के स्वरूप पर विचार करते हैं -

5॥ बौद्ध-तांत्रिक-राग-साधना का स्वरूप :

जिस प्रकार "भक्ति" परम-प्रेम-स्वरूपा है, या दूसरे शब्दों में एक रागसाधना है, ठीक उसी प्रकार बौद्ध तांत्रिक साधना भी एक रागसाधना है - यथा बौद्ध तांत्रिक साधिका-लक्ष्मींकरा के अनुसार -

"रागेणवै बन्ध्यते लोको, रागेणैव विमुच्यते"

अर्थात् राग ॥प्रेम॥ से ही मनुष्य बन्धन में बंधता है, उसी से ॥उपाय रूप में अपनाकर॥ मुक्त हो जाता है ।

मध्यकालीन कृष्ण भक्ति का भी यही मूल विचार है कि कृष्ण भक्ति ऐसा साधना मार्ग है, जिससे व्यक्ति मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थ को सहज ही हस्तगत कर लेता है ।

इससे प्रकट है कि मध्यकालीन कृष्ण भक्ति और बौद्ध तांत्रिकों की साधना दोनों का स्वरूप रागसाधना मूलक है । बौद्ध तांत्रिकों की साधना विषयक "प्रज्ञोपायविनश्चय सिद्धि" नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि[1] -

> सम्भोगार्थमिदं सर्वं त्रैधातु कमशेषत: ।
> निर्मितं बज्रनाथेन साधकानां हिताय च ।।

अर्थात् तीन धातुवों से सर्जित सम्पूर्ण संसार बज्रनाथ ने सम्भोग के लिए और साधकों के हित के लिए निर्मित किया है ।

इस उक्ति में निश्चय ही प्रकृति और पुरूष के बीच भोग्य और भोक्ता का सम्बन्ध निश्चित किया गया है । कृष्ण भक्ति के चिन्तन में भी हम इसी विचार-धारा की प्रतिध्वनि इन शब्दों में पाते हैं -

"तत्र स्वरूपेणैव स्वरूपानुभवे नथा रसो न भवति,

स्त्रीपुरूषाद्यवयवेषु तथोपलम्भात् । अत: स्वस्थितरसाविर्भावेन स्पष्ट भोगार्थं, भेदरूपमात्मानं विधाय, तस्मिनस्वस्मिन् प्रविष्टे बहुधा भिन्न: सन् अन्योन्यस्य रसमनुभवति"[2] ।

अर्थात् - जीवों के आनन्दभोग में ब्रह्म का आनन्द भोग है, क्योंकि परमब्रम्ह ने रमण के लिए प्रपंच-सर्जन की लीला की है, अत: इस प्रपंच के अन्तर्गत जो भी लौकिक स्त्री-पुरूषों का सुख-भोग है, यहाँ तक कि विषय सुख-भोग भी, सब लीलामय ब्रह्म का भोग है । स्त्री-पुरूष तो अवयव रूप का रसास्वादन करता है । एकाकी दशा में

1- प्रज्ञोपायविनश्चय सिद्धि - पृ0 23 - श्लोक नं0 3।

2- आचार्य वल्लभ - सुबोधिनी, सप्तम् स्कन्ध, चतुर्थ अध्याय - श्लोक-24

यह आस्वादन उपलब्ध न होने के कारण ही तो उसने व्यक्त भोग की उपलब्धि के लिए अपने को विभक्त और बहु किया । भाव साम्य के लिए बौद्ध तांत्रिक सिद्ध सरहपा की यह उक्ति द्रष्टव्य है -

।। "खाते-पीते सुखहिं रमन्ते । नित्य पूर्ण चक्कू भरते,
अइस धर्म सिध्यइ परलोका । नाथ पाइ दलिया भय लोका"।

।।। चित्त अचित्तहिं परिहरहु, तिमि होवहु जिमि बाल ।
गुरू वचने दृढ़ भक्ति करू, ज्यों होइ सहज उलास ।।

मध्यकालीन कृष्ण भक्तों के विचार भी इसी प्रकार के हैं कि साधक को धर्म-कर्म, ज्ञान-पाण्डित्य जाति-वर्ण आदि के अहम् को त्याग कर बालक जैसे सरल स्वभाव से दृढ़ विश्वास के साथ गुरू की छाया में कृष्ण की भक्ति करनी चाहिए ।

तांत्रिक बौद्ध साधना में महायानी "प्रज्ञा और उपाय" आगे चलकर क्रमशः "शक्ति" तथा "शक्तिमान" के रूप में प्रस्तुत किए गये । प्रज्ञा और उपाय का अद्वय स्वरूप बोधिचित्त कहा गया । इस बोधिचित्त की प्राप्ति के लिए "प्रज्ञोपाय" साधना को अपनाया गया, जिसका संक्षिप्त परिचय हम आगे दे रहे हैं -

<u>प्रज्ञोपाय</u> : बौद्ध-तन्त्रों में प्रज्ञा को स्त्री तथा उपाय (या करूणा) को पुरूष माना, जो कि एक दूसरे के पूरक हैं । द्वैत होकर भी अद्वैत हैं । नाड़ी योग के अन्तर्गत बौद्ध तांत्रिक सिद्ध शरीर के भीतर स्थित इड़ा (ललना) व पिंगला (रसना) नाड़ियों को प्रज्ञा व उपाय कहते हैं । इसी प्रज्ञा व उपाय को बुद्ध-देव व उनकी शक्ति तारा के रूप में भी मान्यता दी गयी जो कि सृष्टि के निर्माता हैं । अथवा शक्ति व शक्तिमान हैं ।

इस प्रकार प्रज्ञा व उपाय के तांत्रिकों ने मुख्य रूप से तीन दृष्टियों से अर्थ किये हैं -

6

1) आदि भौतिक दृष्टि - (योगी योगिनी)

2) आदि दैविक दृष्टि - (बुद्ध-तारा, आदि बुद्ध, आदि प्रज्ञा)

3) आध्यात्मिक दृष्टि - (प्रज्ञा-उपाय, ललना-रसना)

तांत्रिकों ने संसार की प्रत्येक नारी को प्रज्ञा पारमिता के सदृश्य कहा व पुरूष को उपाय के सदृश्य माना । इन दोनों के समायोग से उत्पन्न तत्व ही बोधिचित अथवा परम सुख है । यह आदि भौतिक दृष्टि थी, जिसमें साधक व साधिका भौतिक रूप में नर-नारी होते हुए भी प्रज्ञा व उपाय के रूप में स्वीकार किये जाते थे ।

आदि दैविक दृष्टि के अन्तर्गत आदिबुद्ध का उपाय व उनकी शक्ति तारा को प्रज्ञा के रूप में स्वीकार किया गया । इनकी अद्वय स्थिति को शक्ति व शक्तिमान का अद्वैतीकरण अथवा एकरूपता में वर्णन किया गया । जिसे युगनद्ध भी कहा जाता है ।

प्रज्ञा व उपाय का आध्यात्मिक अर्थ इन तांत्रिकों ने किया । इसके अन्तर्गत पिण्ड में ब्रम्हाण्ड की कल्पना कर के शरीर के भीतर प्रज्ञा व उपाय रूप में इड़ा-पिंगला नाड़ियों की स्थिति प्रज्ञोपाय कही गयी ।

इस प्रकार दृष्टि भेद अथवा क्षेत्र-भेद के आधार पर इनके अलग-अलग अर्थ किए गये ।

तांत्रिक योग साधना का मुख्य उद्देश्य साधक का बोधिचित्त अथवा सहजसुख की प्राप्ति करना माना गया । इसकी प्राप्ति साधक को प्रज्ञा व उपाय के परम योग अथवा अभिन्न (अद्वय) स्थिति से प्राप्त हो सकती थी जिसे महासुख, समरसता आदि की प्राप्ति कहा जाता था । अतः प्रज्ञोपाय साधना ही इनकी प्रमुख साधना थी । क्योंकि बिना प्रज्ञा के उपाय को व बिना उपाय (पुरूष) के प्रज्ञा (स्त्री) को बन्धन का कारण कहा गया । अतः इनके अद्वैत, अनुत्तर, सामरस्य का अनुभव

करके महासुख की प्राप्ति तक पहुँचने के लिए यौन क्रियायें बौद्ध तांत्रिकों की यौगिक-क्रियाओं में की जानें लगी ।[1] गुरू का उपदेश भी यही है कि योग वही है, जहाँ दोनों का एकात्म हो, द्वयता विवर्जित हो[2] अर्थात् यहाँ प्रज्ञा-उपाय का युगनद्ध रूप योग कहलाया । प्रज्ञा-उपाय की अद्वैतावस्था के बारे में सरहपा कहता है -

अलियो ! धम्म - महासुह पइसइ ।
लवणों जिमि पाणीहि विलिज्जइ ।।2।। दोहाकोष

"प्रज्ञा" व "उपाय" का संयुक्त रूप बौद्धिक तांत्रिकों में युगनद्ध भी कहलाता है । अथवा युगनद्ध अचेतनता व चेतनता का अद्वय रूप है । इन्होंने "प्रज्ञा" को निष्क्रिय व "उपाय" को सक्रिय कहा । जैसा कि पहले कहा जा चुका है महायानियों ने बुद्ध व उनके अवतारों के साथ अनेक देवी देवताओं की कल्पना प्रारम्भ कर दी थी । तांत्रिकों ने भी बुद्ध व बोधिसत्वों के साथ एक-एक शक्ति अथवा देवी की कल्पना की, और इन दोनों की अद्वय स्थिति को दर्शाते हुए इनके सम्मिलित रूप की मूर्तियों की देव-मन्दिरों आदि में स्थापना की जाने लगी । दूसरी ओर ये तांत्रिक युगनद्ध की व्याख्या इस प्रकार भी करते हैं - "प्रज्ञा धर्म है, उपाय बुद्ध है व संघ दोनों का युगनद्ध है ।[3]

उपर्युक्त प्रज्ञोपाय साधना को ही अद्वयसाधना, समरसता, महासुख, सहजानन्द, युगनद्ध, सहज साधना आदि अनेक नामों से भी अभिहित किया गया ।

1- डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठ भूमि - पृ० 252

2- दे० डॉ० धर्मवीर भारती सिद्ध साहित्य - पृ० 180

3- दे० डॉ० धर्मवीर भारती सिद्ध साहित्य - पृ० 186

तुलनात्मक निष्कर्ष :-

उपर्युक्त मध्यकालीन कृष्ण भक्ति के स्वरूप तथा तांत्रिक बौद्धों की राग साधना के स्वरूप के तुलनात्मक अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं -

§1§ दोनों में रागमार्गी साधना है ।

§2§ दोनों में इस प्रेम का स्वरूप "युगल-प्रेम" का माना गया है । चाहे उसे हम प्रज्ञा-उपाय कहें या गोपी कृष्ण का आदर्श प्रेम कहें ।

§3§ सभी के चिन्तन में शक्ति एवं शक्तिमान के बीच §दो तत्वों के बीच§ एक प्रकार का अद्वैत §दो का अभेद भाव से मिलना§, समरसता अथवा युगनद्ध मान्य है । भक्ति के दार्शनिक सम्प्रदायों में चाहे वह अद्वैत भाव हो, चाहे द्वैताद्वैत हो अथवा भेदाभेद या शुद्धाद्वैत हो, सब में द्वैत आभास मात्र है और अद्वैत तात्त्विक है । कुल मिलाकर दोनों की समरसता को ही प्रतिपादित किया गया है, जैसे "मयूराण्ड रस" । अथवा जैसे नमक और जल का एक हो जाना । इसी को आधार-आधेय सम्बन्ध - जैसे चन्द्रमा और चाँदनी, समुद्र और लहर आदि के उदाहरणों से समझाया जाता है । दोनों अन्योन्याश्रित हैं । इस प्रकार चिन्तन गत साम्य दोनों में समान रूप से पाया जाता है ।

§4§ साधना के क्षेत्र में अधिकार भेद तो माना जाता है किन्तु जाति-भेद, लिंग-भेद, अवस्था भेद जैसा कोई भेद दोनों में नहीं माना जाता ।

§5§ गुरु का महत्व दोनों में समान रूप से स्वीकारा गया है ।

§6§ धर्म-कर्म, जाति ज्ञान योग, लोक-वेद की मर्यादाओं आदि की दोनों में समान रूप से उपेक्षा की गयी है ।

§7§ संन्यास को दोनों में समान महत्व दिया गया है इत्यादि ।

ये ऐसी समानताएं हैं जो इन दोनों साधना मार्गों की एक ही परम्परा में होने की बात को विश्वसनीय सिद्ध करती हैं ।

विशेष :

विशेष यह है कि मध्यकालीन कृष्ण भक्त राधा कृष्ण की प्रेम लीलाओं के प्रेक्षक है । जहाँ-तहाँ वे किसी विशेष गोपी के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करके रास क्रीडा में प्रवेश पाने का सन्तोष अनुभव कर लेते हैं, जबकि बौद्ध सिद्ध स्वयं इस प्रेम लीला के कर्ता ﴾अथवा भोक्ता﴿ हैं । यह दोनों में असमानता कही जा सकती है ।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है भक्ति के स्वरूप में प्रेम लक्षणा भक्ति सर्वश्रेष्ठ है, लेकिन यह भक्ति का उत्कृष्ठ रूप है । इससे पूर्व साधना रूपा नवधा भक्ति मानी जाती है, अर्थात् साधना का प्रारम्भिक रूप नवधा का होता है, जिसके द्वारा दशधा अर्थात् प्रेमलक्षणा भक्ति का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है । बौद्ध तांत्रिकों की साधना में भी ऐसे ही दो प्रकार के साधना मार्ग हैं, जिन्हें अनुत्तर पूजा और राग-साधना कहा गया है । अभी तक हमने इनकी रागसाधना का परिचय दिया अब आगे इनकी नवधा भक्ति ﴾अनुत्तर पूजा﴿ के विषय पर संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे ।

6﴿ अनुत्तर पूजा :

जैसा पहले हम महायान की विशेषताओं के अन्तर्गत देख चुके हैं कि महायानियों द्वारा बुद्ध को देवत्व प्रदान करते ही इस सम्प्रदाय में पूजा-पाठ, धार्मिक अनुष्ठानों आदि का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था । आगे महायान की परम्परा के अन्तर्गत आने वाले अन्य तांत्रिक सम्प्रदायों ﴾मंत्रयान, वज्रयान आदि﴿ में भी बोधिचित्तोत्पादक हेतु अनुत्तर पूजा का विधान अपनाया गया ।"धर्म संग्रह" के अनुसार अनुत्तर पूजा के सात अंग है । इस सप्तविध पूजा में - वन्दना, पूजा, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा, बोधिचित्तोत्पाद तथा परिणामना ये सात बातें प्रमुख हैं ।

वन्दना और पूजा - सामान्यत: वंदना, स्तुति को कहते हैं और पूजा, अर्चना को कहा जाता है । अर्थात् उपचार विधि से की गई पूजा ।

किन्तु अनुत्तर पूजा मनोमय पूजा है । शान्तिदेव मनोमय पूजा की उपयुक्तता के विषय में कहते हैं कि -

"अपुण्यवानस्मि महादरिद्रः पूजार्थमन्यन्मम नास्ति किंचित् ।
अतो ममार्थाय परार्थ चित्ता गृह्णन्तु नाथा इदमात्मशक्त्या"।।

(बोधि० परि० 2/7)

अर्थात् मैंने पुण्य नहीं किया, मैं महादरिद्र हूँ, इसलिए पूजा की कोई सामग्री मेरे पास नहीं है । भगवान महाकारूणिक और सर्वभूत-हित में रत हैं । अतः इस पूजोपकरण को नाथ (आप) ग्रहण करें । अकिंचन होने के कारण आकाश धातु का जहाँ तक विस्तार है, तत्पर्यन्त निरवशेष पुष्प, फल, भैषज्य, रत्न, जल रत्नमय पर्वत, वन प्रदेश, पुष्पलता, वृक्ष, कल्पवृक्ष, मनोहर तड़ाग तथा जितनी भी अन्य वस्तुएँ प्राप्त हैं, इन सबको बुद्धों तथा बोधिसत्वों के प्रति वह दान करता है, यही अनुत्तर दक्षिणा है ।[1]

किन्तु साधक को यह स्मरण होने पर कि उपर्युक्त पदार्थों में से, जिन्हें वह अपने आराध्य को भेंट कर रहा है, एक भी उसका अपना नहीं, वह तो अकिंचन है । तब उसे एक ही वस्तु अपनी (निज सम्पत्ति) दिखाई देती है, वह है - उसका आत्मभाव (अस्मिता या अहंभाव) । वह उस पर भी अपना स्वामित्व नहीं रखता, और इसलिए वह बुद्ध को आत्मभाव समर्पण करता है ।[2] इस तरह वह भक्ति-भाव से प्रेरित हो दास-भाव स्वीकार करता है । वह प्रतिज्ञा करता है कि अब मैं प्राणिमात्र का हित-साधन करूंगा, पाप का अतिक्रमण करूंगा और फिर पाप न करूंगा ।[3]

1- आचार्य नरेन्द्र देव - बौद्ध धर्म दर्शन - पृ० 187 से साभार ।
2- आचार्य नरेन्द्र देव - बौद्ध धर्म दर्शन - पृ० 187
3- आचार्य नरेन्द्र देव - बौद्ध धर्म दर्शन - पृ० 187 और बोधिचर्यावता परिच्छेद-2

उक्त मनोयोग पूजा के अनन्तर साधक, बुद्ध, बोधिसत्व, सद्धर्म, चैत्य आदि की विशेष पूजा करता है । मनोरम स्नान-गृह में गन्ध पुष्प-चूर्ण, रत्नमय कुम्भों के जल से गीत वाद्य के साथ बुद्ध तथा बोधिसत्वों को स्नान कराता है, स्नान के बाद निर्मल वस्त्र से शरीर संमार्जन कर सुरक्त, वासित वर - चीवर को प्रदान करता है । दिव्य अलंकारों से उनको विभूषित करता है, धूप-दीप तथा नैवेद्य [भोजन] अर्पित करता है ।[1]

<u>शरण-गमन</u> - उक्त पूजा के अनन्तर साधक त्रिशरण की शपथ लेता है, अर्थात् वह बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाता है । जैसा कि हम आगे देखेंगे, वैष्णव भक्ति के निरूपण में इसी शरणागति को "प्रपत्ति" की संज्ञा दी गई ।

<u>पाप देशना</u> - पापदेशना के अन्तर्गत साधक अपने समस्त पापों का प्रत्यापन करता है । जो कायिक, वाचिक, मानसिक पाप उसने स्वयं किया अथवा दूसरे से करवाया है, अथवा जिसका अनुमोदन किया है, उन सब पापों को वह प्रकट करता है । अपने सब पाप वह बुद्ध के समक्ष प्रकाशित करता है और भगवान से प्रार्थना करता है कि हे भगवान ! मेरी रक्षा करो । जब तक मैं पाप का क्षय न कर लूँ, तब तक मेरी मृत्यु न हो, नहीं तो दुर्गति अपाय में पड़ूँगा । मेरा इस अनित्य जीवन में विशेष आग्रह था । मैं यह नहीं जानता था कि मुझे नरकादि दुःख भोगना पड़ेगा । मैं यौवन, रूप, धनादि के मद से उन्मत्त था, इसलिए मैंने अनेक पापों का अर्जन किया । मैंने चारों दिशाओं में घूमकर देखा कि कौन ऐसा साधु है, जो मेरी रक्षा करे । दिशाओं को त्राणशून्य देखकर मुझको सम्मोह हुआ, और अन्त में मैंने यह निश्चय किया कि बुद्धों की शरण में जाऊँ, क्योंकि वे सामर्थ्यवान् हैं, संसार की रक्षा के लिए उपयुक्त हैं और सबके त्राण को हरने वाले हैं ।

1- दे० आचार्य नरेन्द्र देव - बौद्ध-धर्म-दर्शन - पृ० 187

2

मैं बुद्ध द्वारा साक्षात्प्रकृत धर्म की तथा बोधिसत्वगण की भी शरण में जाता हूँ । मैं हाथ जोड़ कर भगवान के सम्मुख अपने समक्ष उपार्जित उपापों का प्रख्यापन करता हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से कभी अनार्य या गर्हित कार्य न करूंगा ।[1] जैसे रोगी वैद्य के आदेशों का पालन करता है, वैसे ही मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा ।

पुण्यानुमोदन - पाप-देशना के बाद साधक अन्य जीवों के अथवा प्राणीमात्र के शुभ-कर्मों, पुण्यों का स्मरण करके, प्रसन्नता का अनुभव करता है । उनके पुण्यों का, अच्छे कर्मों का अनुमोदन करके उनकी प्रशंसा करता है । समस्त जीवों को समस्त दुःखों से सर्वथा मुक्ति मिले - इस भावना का भी वह अनुमोदन करता है । यही उसका पुण्यानुमोदन हैं ।[2]

बुद्धाध्येषण - पुण्यानुमोदन के अनन्तर साधक अंजलिबद्ध हो सर्व दिशाओं में अवस्थित बुद्धों से प्रार्थना करता है कि अज्ञानतम से आवृत जीवों के उद्धार के लिए भगवान् धर्म का उपदेश करें । यही बुद्धाध्येषणा है । वह फिर कृत-कृत जिनों से प्रार्थना करता है कि वह अभी परिनिर्वाण में प्रवेश न करे ताकि उनके ज्ञानोपदेश के अभाव में, यह लोक निश्चेतन न हो जाए ।[3] यह बुद्ध-याचना भी कहलाती है ।

1- आचार्य नरेन्द्र देव - बौद्ध-धर्म-दर्शन - पृ0 187 से साभार और दे0 बोधिचर्यावतार - परिच्छेद-2

2- आचार्य नरेन्द्र देव - बौद्ध-धर्म-दर्शन - पृ0 187 से साभार और दे0 बोधिचर्यावतार - परिच्छेद-2

3- आचार्य नरेन्द्र देव - बौद्ध-धर्म-दर्शन - पृ0 188

3

बोधि-परिणामना - अन्त में साधक प्रार्थना करता है कि उक्त क्रम से अनुत्तर पूजा करने से जो सुकृत मुझे प्राप्त हुआ उसके द्वारा मैं समस्त प्राणियों के सभी दुःखों का प्रशमन करने में समर्थ होऊँ और सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कराऊँ -

"एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मया साधितम् शुभम् ।
तेन स्यां सर्वभूतानां सर्वदुःख प्रशान्ति कृतम् ।। ‡बोधिचर्यावतार - 3/6‡
यही बोधि-परिणामना है ।[1]

बौद्धों की यह अनुत्तर-पूजा वैष्णवों की नवधा भक्ति से कितनी समानता रखती है, इस बात की चर्चा हम आगे यथा स्थान करेंगे ।

भक्ति साधना में गुरू का विशेष महत्व है और उसी प्रकार बौद्ध तांत्रिकों में भी गुरू का महत्व है । प्रासंगिकता के अनुसार आगे बौद्ध-साधना में गुरू के महत्व पर संक्षेप में विचार कर लेते हैं -

1‡ गुरू - "बौद्धों ‡बौद्ध तंत्रों‡ में गुरू बुद्ध है, सुगत है, धर्मकाय है । वही मुक्ति प्रदाता है, किन्तु यह गुरूपद - लाभ सरल नहीं है ।"[2]
शिष्य की योग्यता के साथ-साथ गुरू का अपना ज्ञान भी महत्वपूर्ण है । अर्थात् जब तक गुरू स्वयं दक्ष नहीं होगा तब तक उसे शिष्य को इस पथ पर लाने की अनुमति नहीं है । वरन् गुरू व शिष्य दोनों की स्थिति दयनीय हो जायेगी, जैसा कि सरहपा ने कहा[3] -

---

1- आचार्य नरेन्द्र देव - बौद्ध-धर्म-दर्शन - पृ0 188
2- डॉ0 नागेन्द्रनाथ उपाध्याय - तांत्रिक बौद्ध साधना एवं साहित्य - पृ0 148
3- श्री राहुल सांकृत्यायन - हिन्दी काव्य धारा - पृ0 3

"जबलों आप न जानिये, तबलों सिख न करेइ ।
अन्धा बाढे अन्ध तिमि, दोउहिं कूप पडेइ ।।8।। ‡दोहाकोष‡

बिना गुरू-कृपा के साधक अपूर्ण है, गुरू ही उसे साधना का मार्ग दिखाता है । उसकी कृपा बिना साधक अपने लक्ष्य की प्राप्ति करने में असमर्थ है । साधक को अपना इष्ट हस्तगत करने के लिए अपने गुरू पर पूरी निष्ठा रखनी आवश्यक है । वह उसे उसके उद्देश्य तक पहुँचाता है । अतः गुरू का महत्व उसके लिए हर दृष्टि से व्यापक है । गुरू के वचन शिष्य के लिए सत्य की पराकाष्ठा हैं, क्योंकि उसकी शरण एवं अनुकम्पा ही साधक के उद्धार का आधार हैं । सरहपा ने कहा है[1] -

चित्त अचित्तहिं परिहरहु, तिमि होवहु जिमि बाल ।
गुरू-वचने दृढ भक्ति करू, ज्यों होइ सहज उलास ।। ‡दोहाकोष-57‡

किन्तु जैसा कि डॉ० धर्मवीर भारती ने लिखा है - "सिद्धों में गुरू के प्रति यह अटल भक्ति तांत्रिक होने के नाते थी, बौद्ध होने के नाते नहीं । क्योंकि बौद्धों ने संघ को महत्व दिया था, गुरू को इतना महत्व नहीं मिला था[2] । जैसे-जैसे बौद्ध धर्म तांत्रिक साधनाओं की ओर उन्मुख होता गया, वैसे-वैसे गुरू-पद की ~~भी~~ गरिमा इनमें बढ़ती चली गयी और आगे चलकर गुरू को ही बुद्ध रूप में प्रतिष्ठित किया जाने लगा । अर्थात् गुरू सर्वोच्च माना गया । कहीं-कहीं गुरू को ही संघ भी व धर्म भी कहा गया ।

आगे हम बौद्ध तांत्रिक राग साधना की प्राचीन व अर्वाचीन परम्परा का विश्लेषण करते हुए मध्यकालीन कृष्णभक्ति परम्परा से उसके सम्बन्ध खोजने का प्रयास करेंगे ।

1- श्री राहुल सांकृत्यायन - हिन्दी काव्यधारा - पृ0 11
2- दे0 सिद्ध साहित्य - पृ0 196

8§ **बौद्ध तांत्रिक रागसाधना की प्राचीन परम्परा :**

यह परम्परा ऐतिहासिक दृष्टि से कितनी प्राचीन है, यह निश्चयपूर्वक कह पाना सरल नहीं है । कुछ विद्वानों का मत है कि वाममार्गी §रागमार्गी§ साधना प्रारम्भ से ही बौद्ध-धर्म में रही होगी यहाँ तक कि कुछ विद्वानों की राय में भगवान बुद्ध द्वारा स्वीकृत "सुजाता की खीर" प्रसंग में इस वाममार्गी साधनाके संकेत विधमान है, किन्तु अपने प्रारम्भिक काल में इस राग साधना की दीक्षा अधिकारी गुरू द्वारा अपने अधिकारी शिष्य को कठोर परीक्षा के बाद कानोकान मौखिक रूप से दी जाती थी । कदाचित यही कारण था कि इसका लिखित साहिंत्य उपलब्ध नहीं रहा होगा । कालान्तर में बौद्ध सिद्धों ने सम्भवत: सर्वप्रथम इसे अपनी वाणी में लिपिबद्ध किया । अत: हम इन बौद्ध सिद्धों से ही इस राग-साधना की प्राचीन परम्परा मानने के लिए बाध्य हैं ।

बौद्ध तांत्रिक सिद्ध - इन बौद्ध सिद्धों ने इस राग साधना से सम्बन्धित अपनी अनुभूतियों को जिन उक्तियों में व्यक्त किया है उनमें से कुछ की उक्तियों का संक्षिप्त विवरण हम नीचे दे रहे हैं । क्योंकि सरहपाद बौद्ध सिद्धों में सर्वश्रेष्ठ व आदि-सिद्ध के रूप में मान्य हैं । अत: उन्हीं से प्रारम्भ करते हैं -

सरहपाद[1] - ।§ अलिओ । धर्म महासुख प्रविशइ ।
नोन जिंमी पानिहीं विलिज्जइ ।।

।।§ खाते-पीते सुखहिं रमन्ते । नित्यपूर्ण चक्रहू भरन्ते ।
अइस धर्म सिध्यइ परलोका । नाथ पाइ दलिया भयलोका ।।

1- म0म0 राहुल सांकृत्यायन - हिन्दी काव्य धारा से साभार ।

।।।॥ यदि दृढ़ विषय-रती ना मुंचइ । सरह भणइ परिज्ञान कि मुंचइ ।।

। ॥ घोर अन्हारे चन्द्रमणि, जिमि उद्योत करेइ ।
परम-महासुख एक क्षण, दुरित-अशेष करेइ ।।

॥ कमल-कुलिश दोउ मध्य थित, जो सो सुरत विलास ।
को तेहि रमै न त्रिभुवने, कासु न पूरै आस ।।
क्षण-उपाय सुख अथवा, अथवा दोऊ सोइ ।
गुरू प्रसादे पुण्य यदि, विरला जानै कोइ ।।

<u>शबरपा</u>[1] - ।॥ चित्त तांबूला महासुख कपूर खाई ।
शून्य नैरात्मा कंठे लेई महासुखे राति विताई ।।

।।॥ ऊँचा ऊँचा पर्वत, तँह वसै शबरी बाली ।
मोर-पिच्छ पहिरले शबरी ग्रीवा गुंजा माली ।।
उन्मत शबरो, पागल शबरो ना करू गुली-गुहाड़ा ।
तोंहार, निज घरनी नामे सहज सुन्दरी ।।

।।।॥ त्रिधातु-खाटे पड़ल शबरो महासुखे सेज छाइल ।
शवर भुजंग निरात्मा दारी पेखत राति विलाइला ।।

<u>भूसुकपा</u>[2] - विरमानंद विलक्षण शुद्ध । जो एहु जानै सो एहि बुद्ध ।
भूसुक भनै मैं बूझ्यो मेला। सहजानंद महासुख-लीला ।।

<u>गुंडरीपा</u>[3] -।॥ तियड़ा चाँपि जोगिनि दे अँकवारी ।
कमलं-कुलिश घौंटि करहु बियाली ।।
जोगिनि तोहि विनु क्षणहुँ न जीयौं ।
तव मुख चूमि कमल रस पीयौ ।।

1- म0म0 राहुल सांकृत्यायन - हिन्दी काव्य धारा
2- म0म0 राहुल सांकृत्यायन - हिन्दी काव्य धारा
2- म0म0 राहुल सांकृत्यायन - हिन्दी काव्य धारा

गोरखनाथ[1] मधि निरन्तर कीजै बास ।
निहचल मनुवा थिर होई साँस ।।
आओ देवी बैसो, द्वादिस अंगुल पैसो ।
पैसत पैसत होइ सुख, तब जनम मरन का जाई दुःख ।।

तिलोपा[2] ।1। जिमि विष भक्षि विषहिं प्रलुप्ता ।
तिमि भव भोगै भवहिं न युक्ता ।।

।2। सहजे भावाभाव न पूछिय ।
शून्य-करूण तहँ समरस इच्छिय ।। इत्यादि ।

तांत्रिक साधना क्रिया प्रधान थी, जो बिना गुरू के निर्देशन के असम्भव थी । जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है इस साधना के अन्तर्गत अधिकारी व्यक्ति ही प्रवेश पा सकता था । सभी के लिए यह संभव नहीं मानीं गई । योग्य गुरू की प्राप्ति के साथ ही साधक के लिए योग्य प्रज्ञा (मुद्रा अथवा योगिनी) का होना भी आवश्यक था । गुरू शिष्य की विभिन्न परीक्षाएँ लेकर जब पूर्ण रूप से उसे इस विद्या के उपयुक्त समझ लेता था अथवा विश्वस्त हो जाता था, तभी उसे अपना शिष्य स्वीकार करता था । साधक व साधिका दोनों का गुरू द्वारा अभिषेक किए जाने के उपरान्त ही ये दोनों बुद्धकुल में सम्मिलित माने जाते थे । यह साधना गुह्य साधना होती थी । इसलिए यह तांत्रिक योग साधना प्रायः जन समाज से दूर जंगलों, पर्वतों आदि निर्जन स्थानों पर ही की जाती थी । साधक मुद्रा (प्रज्ञा) के सहवास में रहकर साधना करता था । मुद्रा-साधना में योगिनी साधक की मुद्रा बनती थी । दोनों की मनोवृत्ति में साम्यवस्था लाने के प्रयास होते रहते थे । इनकी साधना में जो नारियाँ प्रज्ञास्वरूप इनकी साधना का अंग बनती थी, वे प्रायः चाण्डाल कुल की, घृणित जाति की अथवा नीचकुलोत्पन्न होती थीं । तांत्रिकों के

1- म0म0 राहुल सांकृत्यायन - हिन्दी काव्य धारा
2- म0म0 राहुल सांकृत्यायन - हिन्दी काव्य धारा

अनुसार स्त्री जितनी नीच जाति की होगी, साधक को उतनी ही शीघ्र सफलता मिल सकती है । इन मुद्राओं §नारियों§ को ये तांत्रिक डोम्बी, चाण्डाली, रजकी, धोबिन, बंगाली आदि नामों से सम्बोधित करते थे । वस्तुत: तांत्रिकों ने प्रतीकात्मक शैली में स्त्री व पुरूष के लौकिक सम्बन्धों को विभिन्न योग परक नाम दिए -

"आज भूसुक बंगाली भइली, निज घरनी चंडाली लेली ।
डहेउँ पाँच पाटन इन्द्रि-विषया-नष्टा, न जाने चित्त मोर कहाँ जाई पइठा ।
§49 चर्यागीत§

किन्तु "प्रतीकों की भाषा में बोलने के कारण गूढ़ आध्यात्मिक अर्थ तो साधारण जन अथवा स्वयं साधक भी आगे चलकर समझ न पाये । वे डोम्बी, चाण्डाली तथा धोबिन को तलाश कर सीधी लौकिक काम-क्रीडा करके ही स्वयं को साधक समझने लगे और इस प्रकार "महासुख" के अधिकारी समझे गये ।[1] प्राय: इन सम्बन्धों का बाह्य व स्थूल अर्थ ही लिया गया और मूल अर्थ §यदि कुछ और रहा हो तो§ लुप्त हो गया । वस्तुत: यह साधना सामाजिक विधि-निषेधों से परे पंच-मकारों §मद्य, मांस, मैथुन, मदिरा व मीन§ की साधना थी । यद्यपि तांत्रिकों ने इनके योग-परक अर्थ किए किन्तु "अनाधिकारी साधकों के लिए ये सभी बातें व्यभिचार परक आदेश बन कर रह गये[2] । तांत्रिकों की दृष्टि में साधक के लिए संसार की सारी द्वयता विलुप्त हो जाती है । उसके लिए समाज के कोई भी विधि-निषेध मानने की आवश्यकता नहीं । वह इनसे सर्वथा विमुक्त है । अत: इनकी साधना में संसार की सारी स्त्रियाँ चाहे उनसे रक्त सम्बन्ध ही क्यों न हो, उनकी साधना के योग्य हैं[3] । सारी नारियाँ प्रज्ञापारमिता का ही रूप हैं ।

1- डॉ0 विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि - पृ0 31
2- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत परम्परा - पृ0 35
3- दे0 डॉ0 विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ0 253

योगिनी मार्ग जिसे वज्रयानी साधकों ने औधूती-मार्ग, चाण्डाली मार्ग, डोम्बी व बंगाली मार्ग आदि से अभिहित किया है, वस्तुतः एक रागमार्ग है जो वैराग्य मार्ग से नितान्त भिन्न है[1] । इसी मार्ग से ये सहजसुख अथवा महासुख पाते हैं । शबरपा ने कहा[2] -

चित्त ताँबूला महासुख कपूर खाई ।
शून्य नैरात्मा कंठे लेई महासुखे राति बिताई ।।28।। चर्यापद

× × × × ×

ऊँचा-ऊँचा पर्वत, तहँ वसै शबरी बाली ।
मोर-पिच्छ पहिरले धबरी ग्रीवा गुंजा-माली ।।

इनका योग भोग प्रधान था । अतः संसार के सारे सुख-वैभव को भोगते हुए सिद्धि प्राप्ति की बात कही गई है । सरहपा कहता है -

खाअन्त पिअन्ते सुहहिं रमन्ते, णित्त पुण्णु चक्का वि भरन्ते ।
अइस धँम्म सिज्झइ परलोअह, णाह पाए दलीउ भअलोअह ।। दोहाकोष-32

तांत्रिक मत के अनुसार स्त्री-पुरुष की क्रीडा प्रतीक भी है, और साधना में सहायक भी । इनका मानना है कि - "लौकिक रतिजन्य बाह्य आनन्द, आन्तरिक कैवल्यानन्द (प्रज्ञा + उपाय का मिलन) की ही बाह्य अभिव्यक्ति है, अतः यह ग्रहणीय है, त्याज्य नहीं । इसके द्वारा ही अन्तिम आनन्द पा सकते हैं[3] । तांत्रिकों ने सामान्जस्य को मनोवैज्ञानिक पद्धतियों पर खोजा-भोग के माध्यम से कैवल्य की प्राप्ति उनका ध्येय था[4] । इनका मानना था कि बन्धनों से ही मुक्ति मिलती है । इनके अनुसार संसार के भोगों को भोगते हुए भी चित्त को उससे अलिप्त रखना

1- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी - उत्तरी भारत की संत परम्परा - पृ0 46
2- म0म0 राहुल सांकृत्यायन - हिन्दी काव्य धारा - पृ0 21
3- डॉ0 विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि - पृ0 249
4- डॉ0 विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि - पृ0 248

साधना है । सरहपा ने कहा[1] -

"विषय रमन्त न विषय विलिपै, पद्दुम हरइ ना पानी भीजै ।
ऐसेहि योगी मूल बुझन्तों विषय बहै ना विषय रमन्तो ।।

संसार के सुखों को त्यागने की आवश्यकता नहीं । भुक्ति और मुक्ति का इनका यह सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि इनकी साधना चित्त-वृत्तियों के दमन पर विश्वास नहीं करती अपितु इच्छाओं का सहज निर्वाह ही इन्होंने स्वीकार किया । जैसा कि डॉ० धर्मवीर भारती लिखते हैं - "वास्तव में सिद्धों के मार्ग में कहीं भी मन की वृत्तियों को सर्वथा निर्मूल कर वैराग्य युक्त निवृत्तिमय साधना का उपदेश नहीं है[2] । इनकी साधना में योगिनी रूप में जो स्त्रियाँ भाग लेती थी वह परकीया भी होती थी । परकीया प्रेम का एक उदाहरण देखिए कि एक स्त्री जो किसी की बहू ॥विवाहिता॥ है, दिन में तो कौवे से भय खाती है किन्तु वही स्त्री अपने प्रेमी ॥साधक॥ से मिलने रात्रि में भी निर्भय होकर, कामरूप ॥असम प्रदेश का क्षेत्र-विशेष जो कि तांत्रिक साधनाओं के लिए प्रसिद्ध था॥ प्रसन्नता पूर्वक चली जाती है -

"दिवसइ बहुडी काग-डरे भाअ, राति भइले कामरूप जाअ

॥कमरिपा - चर्यापद ॥2॥॥

बिना स्त्री-सहयोग के इनकी साधनाएँ अपूर्ण थी । भोग में योग की प्राप्ति करके कैवल्य सुख तक पहुँचने का प्रयास करता हुआ साधना-रत रहता है । कण्डपा भोग की तुलना में तंत्र मंत्र व्यर्थ बतलाते हुए कहता है[3] -

"एक न कीजै मंत्र न तंत्र, निज घरनी लेई कैलि करन्त"। कण्डपा दोहाकोष॥28॥

1- म0म0 राहुल सांकृत्यायन - हिन्दी काव्य धारा - पृ0 11
2- सिद्ध साहित्य - पृ0 194
3- म0म0 राहुल सांकृत्यायन - हिन्दी काव्य धारा - पृ0 149

अथवा[1]

"जिमि नोन विलाय पानियहिं, तिमि घरनो लेई चित्त ।
सम-रस जाये तत् क्षण, यदि पुनि सो सम नित्य ।।   कण्डपा दोहाकोष-32

राग द्वारा राग से मुक्ति का इनका यह सिद्धान्त भोग में योग की स्थापना करता है - "रागेणवि बन्ध्यते लोको, रागेणैव विमुच्यते" । अर्थात् जिन कारणों से व्यक्ति बन्धन को प्राप्त होता है, उसी को उपाय रूप में अपना कर मुक्त हो जाता है, जैसे विष्य के द्वारा विष का उपचार होता है - काँटे से काँटा निकाला जाता है, उसी प्रकार राग द्वारा बन्धनों में पड़ा व्यक्ति, उसी राग का सदुपयोग करके अथवा साधन रूप में अपना कर बन्धन मुक्त हो सकता है -

"जिमि विस भक्खइ, विसहि पलुत्ता ।
मित भव भुन्जइ, भवहिं ण जुत्ता ।।24।।   (तिलोपा, दोहाकोष)

तांत्रिकों में काया-साधना के माध्यम से सिद्धि की जो बात कही गयी है, उसके अन्तर्गत इन लोगों ने पिण्ड में लघु ब्रह्माण्ड की कल्पना की और उसे मनुष्य देह के भीतर ही स्थित कहा, अर्थात् जो कुछ बाहर है वो सब शरीर के भीतर ही उपलब्ध है । सरहपा कहता है -

जिमि बाहिर मित अब्भन्तरू ।
चउदह भुवणे ठिअऊ गिरन्तऊ ।।89।।   दोहाकोष

इनमें नाडी योग के अन्तर्गत शरीर के अन्दर ही गंगा-यमुना, सारे तीर्थ - गंगा सागर, चन्द्र, सूर्य आदि विद्यमान माने गये हैं, अतः बाहर की अपेक्षा इन्हें स्वयं अपने भीतर ही ढूंढना चाहिए - सरहपा ने कहा[2] -

"एहिं सों सुरसरि जमुना, एहिं सो गंगासागर ।
एहिं प्रयाग वाराणसी, एहिं सो चन्द्र दिवाकर ।।"

1- म0म0 राहुल सांकृत्यायन - हिन्दी काव्य धारा - पृ0 149

2- म0म0 राहुल सांकृत्यायस - हिन्दी काव्य धारा - पृ0 9

जिन लोगों ने योग-साधना को काया साधना के रूप में अपनाया, उनमें शक्ति {प्रज्ञा} व शक्तिमान {उपाय} का योग अन्तर्जगत में होता है, किन्तु उसे प्राप्त करने के लिए भी भले ही कुछ समय के लिए, किन्तु नारी का समावेश है, क्योंकि ये योग ही भोगपरक है। तांत्रिकों द्वारा प्रयुक्त प्रतीकात्मक शब्दावली का शब्दार्थ, भावार्थ एवं गूढार्थ सर्वथा भिन्न था। इन्होंने बुद्ध की चार काया मानीं -

1} निर्माण काया,

2} धर्म काया

3} सम्भोगकाया तथा

4} सहजकाया।

काया शुद्धि की साधना के द्वारा जो काया अजर-अमर होती है वह सहजकाया है। शरीर के अन्दर बौद्ध तांत्रिक योगी चार चक्र मानते हैं - पहला है नाभिकमल, दूसरा हृत्कमल, तीसरा सम्भोग चक्र तथा चौथा है उष्णीय कमल। इन्हीं चार चक्रों में बुद्ध की चार कायों का निवास कहा गया। उष्णीय कमल में {शीर्ष में} बुद्ध की सहजकाया का वास है। हृदय प्रदेश में धर्मचक्र है जहाँ उनकी धर्मकाया का वास है। कण्ठ के समीप सम्भोग चक्र है जहाँ उनकी सम्भोगकाया का वास है तथा नाभि में नाभिचक्र है, जहाँ उनकी निर्माणकाया का वास कहा गया है। इन्हीं चार कायाओं में चार प्रकार के आनन्दों की बात कही गयी है -

1} प्रथमानन्द

2} परमानन्द

3} विरमानन्द और अन्तिम है-

4} सहजानन्द।

सहजानन्द ही साधक का प्राप्य है। सहजानन्द उष्णीय कमल में स्थित बुद्ध की सहजकाया की स्थिति को प्राप्त करके पाया जा सकता है, इसे योगी अपना लक्ष्य बनाकर चलता है। इस शरीर साधना में इड़ा-पिंगला नाड़ियाँ प्रज्ञा-उपाय {नर-नारी} के रूपक हैं। जो सुषुम्नामार्ग {मध्यम मार्ग} से चल कर बोधिचित्त अथवा सहजकाया की स्थिति को प्राप्त करके सहजानन्द {अद्वय} तक पहुँच जाता है, यही कैवल्य है। बौद्धतंत्रों में इसे ही सम्भवतः बिन्दु साधना कहा गया है।[1]

1- म0म0 गोपीनाथ कविराज - भारतीय संस्कृति और साधना - भाग 1-2

यह शारीरिक साधना अथवा योग भी एक प्रकार से लौकिक काम का प्रतिरूप था। मात्र सांकेतिक शब्दावली थी, जो वास्तविकता के विपरीत थी। यद्यपि यह योग साधना कहलाती थी, किन्तु परोक्ष रूप में या कहें व्यवहारिक रूप में उसमें सारी क्रियायें लौकिक वामाचार के सदृश्य थीं। सहजसुख उनका उद्देश्य होता था, और जैसा डॉ0 विश्वम्भनाथ उपाध्याय लिखते हैं - "सहज सिद्ध साधना में स्त्री व पुरूष दोनों की सम्मिलित क्रीड़ा के बिना "महासुख" की प्राप्ति असम्भव मानी गई[1]। इस "महासुख" को व निर्वाण को इन्होंने एक माना। कण्डपा ने कहा[2] -

"सब जग काय - वाक - मन मिलि, स्फुरै नाहि दुरै।
सो एहि अंगे "महासुख" निर्वाण एक रे।।"

अथवा जब कण्डपा कहता है कि संसार के भोगों को भोगते हुए निर्वाण मिलता है, तो सिद्ध तांत्रिकों का दृष्टिकोण स्पष्ट होने लगता है -

"भणइ काण्ह भव भुन्जन्तो, णिब्बाणोंवि सिज्झइ
कण्डपा, दोहाकोष।।2।।

इनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों में भी इनके भोगमय जीवन का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है, भले ही उन्होंने उसे प्रतीकात्मक रूप में प्रयोग किया हो परन्तु उसके सामान्य अर्थ की इनके योग में अवहेलना हुई हो ऐसा नहीं प्रतीत होता। इनकी "कमल-कुलिश" साधना में भी यही भाव झलकता है -

"तिअड्ड चापि जोइनि, दे अंकवाली।
कमल-कुलिश घोंटि करहुँ विआली।।
जोइनि तईं बिनु खनहिं न जीवमि।
तो मुह चुम्बि कमल-रस पीवमि।।4।। (गुंडरीपा, चर्यागीत)

1- हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठ भूमि - पृ0 31
2- म0म0 राहुल सांकृत्यायन - हिन्दी काव्यधारा-पृ0 149

बौद्ध-तांत्रिकों का प्रेम, इनकी योगिनियों के प्रति ह्र उन्हें नैरात्मा का प्रतीक मानकर व्यक्त किए गये प्रेमोद्गारों की शब्दावली में काम-भाव का स्थूल अर्थ अधिक झलकता था, शुद्ध प्रेम कम । बौद्ध-सहजयानी सिद्धों की रचनाओं में जो "चर्यागीत" और "दोहाकोश" के नाम से प्रकाशित हैं, अनेक स्थलों पर ऐसे ही प्रेम के भाव व्यक्त किए गये हैं, किन्तु उन्होंने इसके योगपरक अर्थ भी किये । इन तांत्रिक बौद्धों ने जहाँ "प्रज्ञा" और "उपाय" के रूपकों में स्त्री व पुरुष के प्रेम सम्बन्धों को सामने रखा वैसे ही आगे चलकर कृष्ण-भक्ति काव्य में राधा ॥गोपी॥ व कृष्ण के माध्यम से लौकिक स्त्री-पुरुषों के रति सम्बन्धों का वर्णन कृष्ण की प्रेम लीलाओं के रूप में किया गया । इन कृष्णभक्त कवियों का भी तांत्रिक सिद्धों की तरह दृढ़ विश्वास है कि हर पुरुष में कृष्ण व हर स्त्री में राधा का अंश है ।॥तांत्रिकों ॥बौद्ध सिद्धों॥ ने प्रत्येक स्त्री को प्रज्ञा व पुरुष को उपाय माना था॥ "इनके विचार से मानवीय प्रेमव ईश्वरीय प्रेम में कोई वैसा अन्तर नहीं है जो किसी प्रकार से दूर न किया जा सके[1] ।

इस प्रकार प्रतीक रूप में भी स्त्री-पुरुष के लौकिक सम्बन्धों की चर्चा हम इन तांत्रिकों के योग में पाते हैं, डॉ0 धर्मवीर भारती लिखते हैं - "वास्तविक नारियाँ इनकी साधना में सम्मिलित नहीं होती थी, यह धारणा सर्वथा एकांगी है[2] । वे जीवन में विराग के स्थान पर अनुभूति की प्रतिष्ठा करने के लिए सन्नद्ध थे[3] ।

पूरवर्ती काल में तांत्रिकों की इसी भुक्ति - मुक्तिप्रद साधना ने जब शास्त्रीय रूप ग्रहण किया तो उसे ही भक्ति नाम दिया गया ।

1- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी॥ मध्यकालीन प्रेम साधना - पृ0 47

2- सिद्ध साहित्य - पृ0 220

3- सिद्ध साहित्य = पृ0 232

5

विशेष रूप से उल्लेखनीय यह है कि ऊपर जो सिद्धों की इस राग साधना विषयक अनुभूतियों की उक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं वे अपरोक्षानुभूति मूलक हैं। साधक स्वयं भोक्ता है। इसके बाद जो नयी परम्परा जिसका हम अर्वाचीन परम्परा कहकर आगे परिचय देने जा रहे हैं, उसमें साधक की रागसाधना विषयक अनुभूतिमूलक उक्तियाँ परोक्ष, अनुभूति से सम्बन्धित है, अर्थात् साधक स्वयं भोक्ता या कर्ता न होकर कोई दैवी शक्ति §भगवान§ मूल भोक्ता है और साधक उसका दृष्टा है। सम्भवत: इसी परिवर्तित स्वरूप को भक्ति नाम दिया गया।

प्राचीन परम्परा में जिसे हम वाममार्गी साधना कहते हैं, उसमें योगी और योगिनी शारीरिक भोग द्वारा योग साधना करते थे। यही साधना बिन्दु साधना, रागसाधना आदि अनेक नामों से जानी गयी। ऐसा प्रतीत होता है कि जब इस साधना के युग सापेक्ष नये संस्करण हुए तब इस साधना में साधक व साधिका की प्रत्यक्ष भोग क्रिया को परोक्ष रूप में अर्थात् शक्ति तथा शक्तिमान की भोग क्रियाओं §दो दैवी शक्तियों की प्रेम क्रीडाओं§ के ध्यान के रूप में अपनाया गया। फिर भी इस साधना में उपर्युक्त गुह्य साधना का अस्तित्व अदृश्य रूप में रहा हो तो यह सम्भव है।

9§ <u>बौद्ध तांत्रिक रागसाधना की अर्वाचीन परम्परा</u> :

<u>वैष्णव सहजिया</u> - महायानी बौद्ध धर्म नाना यानों - उपयानों से गुजर कर जब वैष्णव सहजिया के रूप में रूपान्तरित हुआ तब भी वह बौद्ध सहजियायों में प्रचलित राग-साधना से मुक्त नहीं हो पाया और वैष्णव भक्त कवियों में जो कि मुख्य रूप से पूर्वी भारत के थे, वही रागानुराग की प्रवृत्ति यथावत् चली आयी। डॉ० हरवंशलाल शर्मा के अनुसार - "सहजिया सम्प्रदाय बौद्धों की सहजयान शाखा का विकसित रूप कहा जा सकता है, जैसे उसमें "प्रज्ञा"

व "उपाय" का युगनद्ध रूप सामने रखा था, उसी प्रकार इन्होंने राधा और कृष्ण का युगल रूप सामने रखा[1] । इस सहजिया सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रमुख रूप से संस्कृत कवि गीतिगोविन्दकार जयदेव, मैथिल कवि विद्यापति तथा बंगला भाषा के कवि चण्डीदास का नाम प्रमुख है । इनके काव्य में कृष्ण-राधा की प्रेम-लीलाओं अथवा कृष्ण तथा गोपियों के केलि-विलास का जैसा वर्णन मिलता है वह निश्चित ही अपनी पूर्ववर्ती परम्परा (बौद्ध सहजयानियों की परम्परा) से गृहित किया गया सा प्रतीत होता है । इन वैष्णव कवियों के काव्य का प्रभाव हम चैतन्य देव की भक्ति पर पाते हैं और चैतन्य देव से होती हुई यह भक्ति-भावना उत्कल के पंच-सखाओं में परिलक्षित होती है । ये पंचसखा स्वयं को चैतन्य के सम्प्रदाय से जोड़कर चलते हैं किन्तु मूल रूप से ये उड़ीसा के हिन्दू राजाओं से भयग्रस्त होकर छद्मवेश में रह रहे बौद्ध-अनुयायी ही थे[2] । यद्यपि हिन्दू राजाओं के राज्यकाल में बौद्ध धर्म का प्रभाव मन्द पड़ना प्रारम्भ हो चुका था, तथापि उड़ीसा 1560 ई० तक बौद्ध धर्मावलम्बियों का गढ़ बना रहा । क्योंकि राजा रुद्र प्रताप की मृत्यु के 22 वर्ष बाद सन् 1551 ई० में मुकुन्द देव के सिंहासनारोहण पर महान परिवर्तनों के कारण उत्कल के राजनीतिक गगन में उथल-पुथल होने लगी । मुकुन्द-देव बौद्ध-धर्म का कट्टर समर्थक था[3] । जगन्नाथ का मन्दिर प्रारम्भ में बौद्ध-मन्दिर था और कुछ वज्रयानियों का भी उस पर आधिपत्य रहा परन्तु दसवीं शती में वह वैष्णवों के अधिकार में आ गया[4] ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बौद्ध सहजयान से कालान्तर में वैष्णव सहजयान निकला और बौद्ध-धर्म के ह्रास के युग में इस धर्म से निकले अनेक यानों

1- दे० सूर और उनका साहित्य - पृ० 71
2- विस्तार के लिए देखिए - श्री नगेन्द्रनाथ वसु, भक्तिमार्गी बौद्ध-धर्म
3- विस्तार के लिए देखिए - श्री नगेन्द्रनाथ वसु, भक्तिमार्गी बौद्ध-धर्म - पृ० 95
4- डॉ० रामरतन भटनागर,- मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति और तुलसीदास - पृ० 24

- उपयानों ने स्वयं में युग सापेक्ष सुधार किए व वैष्णव धर्म का आवरण ओढ़ना आरम्भ किया, किन्तु अपनी मूल प्रवृत्तियों को वे फिर भी विस्मृत न कर सके और उनकी "प्रज्ञोपाय" साधना अब कृष्ण-राधा की युगल-भक्ति में प्रकट होने लगी । इस प्रकार प्रज्ञा-उपाय वैष्णव-सहजियायों के राधा-माधव हो गये और सहजयानी राग-साधना यथावत् रूपान्तरित हो गई ।

वैष्णव सहजियान का प्रमुख सिद्धान्त "प्रेम" का है । इन वैष्णव सहजियाओं में सर्व-प्रथम जिस कवि का नाम प्रसिद्ध है, "वह है - संस्कृत कवि - जयदेव । इनका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है -

§1§ जयदेव - ये बंगाल के सेनवंशी राजा लक्ष्मण सेन के दरबारी कवि थे, जिसका समय लगभग सन् 1179 - 1205 माना जाता है । नयी शोधों से यह बात प्रकाश में आयी है कि जयदेव का जन्म उत्कल प्रान्त के पुरी जिले में "केन्दुली सासन" नामक ग्राम में हुआ और इनका जीवन काल राजा कामार्णव §शासनकाल सं0 1199 - 1213 वि0§ और राजा पुरूषोत्तमदेव §सं0 1227 - 37 वि0§ के आस-पास माना जाता है । संस्कृत भाषा में रचित "गीति-गोविन्द" इनका सुप्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ है । जो गेयपद शैली में रचा गया है । इसमें श्रीकृष्ण व राधा के रूप माधुर्य एवं उनकी परस्पर रागानुरक्ति का सरस वर्णन किया गया है । यह माना जाता है कि गेय पदों की परम्परा जयदेव से प्रारम्भ होती है । यद्यपि पूर्वी-भारत में 12वीं, 13वीं शताब्दियों में लोकभाषा में कृष्णलीला से सम्बन्धित गेयपद §शुक्ल धमाली और कृष्ण धमाली§ परम्परा चली आ रही थी[1] । किन्तु गेयपद परम्परा को साहित्यक रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय जयदेव को गीति-गोविन्द के द्वारा मिला । गीति गोविन्द में राधा कृष्ण की विवाहिता न होकर परकीया रूप में प्रेयसी है । जो कृष्ण के रूप तथा

1- दे0 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - सूर-साहित्य

प्रेम की ओर पूर्णतया आकृष्ट है । कृष्ण व राधा दोनों ही एक दूसरे के वियोग को सहन करने में असमर्थ हैं - प्रेम की पराकाष्ठा की स्थिति में पहुँचे हुए ये दोनों दो होकर भी एक हैं । राधा-कृष्ण के प्रेम में व्याकुल गोविन्द-गोविन्द की रट लगाये अपने प्रेम में अलौकिकता का अनुभव करती है । आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का कहना है कि जयदेव की कविताओं में सहजयान के "प्रज्ञा" तथा "उपाय" ने ही "राधा" और "कृष्ण" का रूप धारण कर लिया है और महासुख की अन्तिम अवस्था ही अलौकिक प्रेम में रूपान्तारित हो गई[1] । जयदेव का गीति-गोविन्द पूर्णरूप से भागवत् परम्परा का ग्रन्थ नहीं है । उसमें {गीति-गोविन्द में} राधा प्रमुख गोपी है, जो भागवत् में अपरिचित है[2] । राधा का सर्व-प्रथम विस्तृत और मान्य रूप जयदेव के गीति गोविन्द में ही मिलता है[3] । अतः भागवत् परम्परा वैष्णवीय परम्परा है और गीति-गोविन्द की परम्परा सहजयान से प्रभावित है[4]।

डॉ० रामनाथ शर्मा के अनुसार - "एक मत से जयदेव पर निम्बार्क मत का तो दूसरे मत से माध्वमत का प्रभाव बताया जाता है, किन्तु एक तो गीतिगोविन्द में उन्होंने हिंसामूलक यज्ञों की निन्दा करनेवाले कारूणिक भगवान बुद्ध की स्तुति केशव नाम से की है -

> निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम् ।
> सदयहृदय-दर्शित पशु-घातम् ।
> केशव धृतबुद्ध शरीर जय जगदीश हरे । {गीति-गोविन्द 1/9}

दूसरे, ऐतिह्य प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है कि उस समय तक सहजयानी अवधारणाओं का बंगाल व उड़ीसा प्रांतों से लोप नहीं हुआ था, वरन् वेश-परिवर्तन की प्रक्रिया उनमें चल रही थी । इस वेश-परिवर्तन की प्रक्रिया का

1- उत्तरी भारत की सन्त परम्परा - पृ० 99
2- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य - पृ० 167
3- डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि - पृ० 272
4- डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि - पृ० 272

बाह्य-रूप भुवनेश्वर और जगन्नाथ के प्राचीन बौद्ध-मन्दिरों को वैष्णव मन्दिरों में परिवर्तित करने में और साहित्यिक रूप बुद्ध को केशव, कृष्ण, हरि, विष्णु आदि के रूप में चित्रित करने के प्रयत्नों में प्रत्यक्ष है । अतः कहा जा सकता है कि जयदेव पर बौद्धों के सहजयान का प्रभाव ही प्रमुख है[1] ।"

जयदेव के पश्चात् कृष्ण-लीलापरक गेय पदों की परम्परा में मैथिल कवि विद्यापति व बंगला कवि चण्डीदास का नाम वैष्णव सहजियाओं के अन्तर्गत आता है, जिनका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है ।

§2§ विद्यापति – विद्यापति का जन्म सम्भवतः 1368 ई0 में मिथिला में हुआ था । ये राजा शिवसिंह के दरबारी कवि थे । इन्होंने बहुत से ग्रन्थों की रचना की, जैसे कीर्तिलता, कीर्तिपताका, गोरक्षविजय, मणिमंजरी आदि । किन्तु विद्यापति की कीर्ति का स्तम्भ उनकी पदावली है । विद्यापति की अन्य रचनाएँ भले ही किसी न किसी आश्रयदाता की प्रेरणा से अथवा उसकी प्रशस्ति में लिखी गई हैं, किन्तु विद्यापति की पदावली में उनके हृदय के सहज उद्‌गार व्यक्त है । मैथिली भाषा में लिखित इनकी पदावली में कृष्ण और राधा के संयोग श्रृंगार का ही वर्णन अधिक हुआ है । विद्यापति के काव्य में हृदय की कोमलता की अपेक्षा बाह्य सौन्दर्य अथवा स्थूल प्रेम का निरूपण प्रमुख है । "वासनाओं के दमन से जीवन सुधर सकता है - वे इस उद्धवी घोष के विपरीत थे और उन गोपियों के अनुयायी थे जो इंद्रियों की सहज तृप्ति रूप और सौन्दर्य की प्रेमासिक्त धारा में खोजती हैं । इसलिए पदावली में इन्होंने §विद्यापति ने§

1- श्रेय साधक कबीर - पृ0 83

ऐन्द्रिय स्तर का वर्णन जम कर किया है[1] ।" विद्यापति की पदावली में राधा अधिक विलासिनी और विदग्धा के रूप में दिखाई देती है । प्रेमी युगल (कृष्ण और राधा) एक दूसरे को पाने के लिए मर्यादा की श्रृंखलाएं तोड़ने को आतुर हैं । कुल मिलाकर कृष्ण-राधा के प्रेम प्रसंगों के रूप में लौकिक रति का वर्णन मिलता है जो बौद्ध सहजिया परम्परा का स्मरण कराता है । "सहजिया यौगिक साधना ही वस्तुत: इस वैष्णव प्रेम साधना को जन्म देने वाली थी x x x x x इसमें "शब्दावली" का अन्तर अवश्य आ गया, सिद्धान्त बहुत कुछ वही थे[2] ।

(3) <u>चण्डीदास</u> -- वैष्णव सहजिया परम्परा में बंगला कवि चण्डीदास को विशेष स्थान प्राप्त है । विद्यापति और चण्डीदास सम-सामयिक कवि थे[3] । "श्रीकृष्ण कीर्तन" चण्डीदास की प्रमुख कृति है । चण्डीदास चैतन्य महाप्रभु से पूर्व हुए माने जाते हैं इसलिए इन्हें बंगला के आदिकालीन कवियों में स्थान दिया जाता है[4] । चण्डीदास के राधा कृष्ण मानव जगत के स्त्री-पुरुष हैं । उनकी लीलाएं सभी मानव, तरूण-तरूणियों के अनुरूप हैं[5] । चण्डीदास ने मानवीय प्रेम को आध्यात्मिक रूप में रखकर कृष्ण-राधा के प्रेम का वर्णन किया है । चण्डीदास के प्रेमगीतों में परकीया प्रेम प्रमुख है । स्वयं चण्डीदास ने "रामा धोबिन" से प्रेम किया था, किन्तु यह बात ऐतिहासिक परिप्रेक्ष में अभी स्पष्ट नहीं हुई है । चण्डीदास की राधा सुकुमार एवं अत्यन्त कोमल हृदय नारी है । उसमें आत्मसमर्पण, त्याग का भाव प्रबल है । वह विद्यापति की राधा की तरह विलासिनी न होकर

1- सं० डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, विद्यापतिका - पृ० 42
2- दे० डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० 266
3- दे० डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० 267
4- डॉ० सत्येन्द्र, बंगला साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - पृ० 80 - 81
5- डॉ० सत्येन्द्र, बंगला साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - पृ० 87

सात्विक प्रेम से अपने प्रिय कृष्ण के प्रति आकर्षित है । चण्डीदास पर स्पष्टतः दो परम्पराओं का प्रभाव दिखाई पड़ता है । एक है - बारहवीं शताब्दी के संस्कृत कवि जयदेव के गीति गोविन्द की राधा कृष्ण के प्रेम की धारा और दूसरी बौद्ध सहजिया धर्म की धारा ।

चण्डीदास की आराध्य "वाशुली देवी" ¶जिस मन्दिर के वे स्वयं प्रारम्भ में कुछ समयतक पुजारी थे¶ वज्रयानियों की वज्रधात्वीश्वरी का ही रूपान्तर मानी जाती है[1] । चण्डीदास द्वारा रचित "श्री कृष्ण कीर्तन" में कितने ही पद चर्या के पदों की छाया पर मिलते हैं, इससे श्री कृष्ण कीर्तन पर बौद्ध धर्म का प्रभाव माना जा सकता है[2] । श्री नागेन्द्रनाथ वसु का मानना है कि - "वैष्णव सहजिया वास्तव में प्राचीन बौद्ध सहजियायों के क्रमागत वर्ग मात्र हैं[3] । तात्पर्य यह है कि बौद्ध सहजियाओं ने जो परम्परा छोड़ी वह काफी सीमा तक वैष्णव सहजियाओं द्वारा ग्रहित कर ली गई और आगे सारा का सारा मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य राग-साधना के रूप में इन वैष्णव सहजियाओं के द्वारा प्रभावित हुआ । या यों कहें कि बौद्ध सहजियाओं ने विशेष परिस्थितियों में अपने नाम के आगे वैष्णव शब्द और जोड़ लिया किन्तु परम्पराएँ अपनी वही पुरानी रखीं । सूक्ष्म रूप से विचार करने पर विदित होता है कि जयदेव जैसे कुछ वैष्णव कवियों की रचनाओं में सहजयानियों की प्रज्ञा एवं उपाय नामक तत्व ही राधा और कृष्ण के रूप धारण कर अद्वय दशा में अपने ढंग से मिल जाते हैं[4] ।

1- दे० आचार्य बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय - पृ० 493
2- डॉ० सत्येन्द्र, बंगला साहित्य का संक्षिप्त इतिहास- पृ० 80 - 81
3- भक्ति मार्गी बौद्ध धर्म ¶भूमिका¶ - पृ० 29
4- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा - पृ० 127

आगे चलकर इन वैष्णव सहजियाओं के कृष्ण राधा विषयक प्रेम गीतों का गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णव भक्तों पर, विशेषकर चैतन्य महाप्रभु पर विशेष प्रभाव पड़ा । चैतन्य महाप्रभु इन गीतों को गाते या सुनते हुए इतने भाव-विभोर हो जाया करते थे कि उन्मत्त होकर नाचने लग जाते थे या बेहोश हो जाया करते थे ।' कृष्णदास कविराज ने चैतन्य चरितामृत में लिखा है कि गीति-गोविन्द, चण्डीदास और विद्यापति के गीतों को सुनकर महाप्रभु विशेष आनन्दित होते थे[1] -

विद्यापति, चण्डीदास, श्री गीति गोविन्द ।
एइ तीन गीते कराये, प्रभुर आनन्द ।।

10॥ उत्कल के पंच सखा :

जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास आदि के अतिरिक्त वैष्णव सहजिया परम्परा के अन्तर्गत आने वाले उड़ीसा के पाँच बड़े वैष्णव कवि हुए जो "पंच सखा" के नाम से जाने जाते हैं । इन पाँचों कवियों के नाम इस प्रकार हैं -- बलरामदास, अनंतदास, यशोवंतदास, जगन्नाथदास और अच्युतानन्ददास । अच्युतानन्ददास कृत "उदय-कहाणी" नामक ग्रंथ में इनके जन्मकाल का उल्लेख इस प्रकार मिलता है -

बलरामदास - 1473 ई0 ।
अनन्तदास - 1475 ई0 ।
यशोवन्तदास - 1476 ई0 ।
जगन्नाथदास - 1476 ई0 ।
अच्युतदास - 1489 ई0 ।

1- डॉ0 सत्येन्द्र, बंगला साहित्य का इतिहास - पृ0 127

इनमें बलरामदास सबसे वयोवृद्ध व अच्युतदास सबसे कनिष्ठ थे[1] । सामान्यतः ये समाज की निम्न श्रेणी के व्यक्ति माने जाते थे[2] ।

उड़ीसा में राजा रूद्र प्रताप के समय में बौद्धों पर किये गये अत्याचारों से भयभीत होकर अनेक बौद्ध-अनुयायी चैतन्य महाप्रभु के गाड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गये । चैतन्य महाप्रभु का वहाँ इतना व्यापक प्रभाव था कि उनके प्र प्रभाव से अनेक बौद्ध-भिक्षु-भिक्षुणियों ने नेड़ा-नेड़ी के रूप में वैष्णव समाज में दीक्षा ली थी[3] । किन्तु इनमें से बहुत से लोग अपने को अनुरक्त वैष्णव तथा महाप्रभु के कट्टर एवं भक्तियुक्त उपासक जतलाते थे, फिर भी वे अपने हृदय के निभृततम अंचल में बुद्ध के उपासक मात्र थे[4] । ऐसे वैष्णव भक्तों में उड़ीसा के उपर्युक्त पंच सखाओं को विशेष रूप से रखा जा सकता है जो कि बाहर से वैष्णवों का आवरण पहन कर भी आन्तरिक रूप से बुद्ध के उपासक मात्र थे । इन कृष्ण भक्त कवियों की रचनाओं में ﴾शून्य पुराण, गुप्तगीता, शून्य संहिता, विराट गीता आदि में﴿ उसी महाशून्य की छद्म-वेश में स्तुति की गई है जो बौद्धों का "शून्य" है अथवा "बुद्ध स्वरूप" है । इन कवियों ने जो विवशतावश बौद्ध-धर्म छोड़कर वैष्णव धर्म का चोला पहने हुए थे, दसों अवतारों के गुणगान करने के प्रसंग में जगन्नाथ﴾ या दारू-ब्रह्म को कलियुग में उद्धार करने वाले बुद्ध के साथ एक और समान माना[5] ।

नवमें बन्दइ श्री बुद्ध-अवतार ।
बुद्ध रूपे विजे कले श्रीनीलकलन्दर ।।

1- दे0 आचार्य बलदेव उपाध्याय, भागवत् सम्प्रदाय - पृ0 535

2- दे0 आचार्य बलदेव उपाध्याय, भागवत् सम्प्रदाय - पृ0 535

3- दे0 आचार्य बलदेव उपाध्याय, भागवत् सम्प्रदाय - पृ0 493

4- श्री नगेन्द्रनाथ वसु, भक्तिमार्गी बौद्ध धर्म - पृ0 148

5- श्री नगेन्द्रनाथ वसु, भक्तिमार्गी बौद्ध धर्म - पृ0 154

(नवें मैं अपनी भक्ति बुद्ध के अवतार को अर्पित करता हूँ, जो बुद्ध रूप में नीलाचल अर्थात् पुरी में रहते हैं । (सरलदास कृत महाभारत का अंश)

चैतन्य महाप्रभु ने प्रेमाभक्ति की जो लहर उत्कल में दौड़ायी थी, ये पाँचों स्वयं को उसी वैष्णव परम्परा का कवि मानते थे। इन - कवियों के गौरव का अभ्युदय श्री चैतन्य देव के पुरी आगमन के अनन्तर हुआ । अपने इष्ट देवता के आदेश से पाँचों जन उनके दीक्षित शिष्य बन गये[1] । पंच सखा नाम से प्रसिद्ध इन पाँचों ने श्रीकृष्ण के यश का अपनी रचनाओं में गुणगान किया और उत्कल में वैष्णव धर्म के समर्थक व प्रचारक मान लिये गये । ये पाँचों कवि उड़िया भाषा में लिखते थे । जाति-पाँति, बाह्य आडम्बरों का विरोध आदि इनके सिद्धान्तों के अन्तर्गत आते हैं । किन्तु श्री नगेन्द्रनाथ वसु का मानना है कि यद्यपि ये बाह्य रीति से वैष्णव धर्म को मानते तथा चैतन्य मत का प्रचार करते थे, तथापि उनके हृदय के अन्तरमम अंचल में वे दीर्घ काल तक उपेक्षित तथा प्रायः विस्मृत महायान सम्प्रदाय के धर्म के सच्चे तथा कट्टर उन्नायक एवं समर्थक थे[2] । इनकी रचनाओं, यथा अच्युतानन्द की रचना "शून्य संहिता" बलरामदास कृत "विराट गीता" सारस्वतगीता, गुप्तगीता, जगन्नाथदास की रचना, "तुला-भिना" आदि में महायानी बौद्ध-सिद्धान्तों जैसे शून्य, धर्म, महाशून्य का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है । यथा बलरामदासनेअपनी "गणेश-विभूति-टीका" में इस प्रकार लिखा[3] -

"अनाकार रूपं शून्यं मध्य निरन्जनः ।
निराकारमङ्ग ज्योतिः सज्जोतिर्भगवानयम् ।।"

शून्य सभी रूपों एवं आकारों से वंचित है । इसके मध्य में निरंजन है, जो निराकार और ज्योतिर्मान है, यही वह निराकार और ज्योतिर्मान् भागवत् है जो सभी गुणों का स्वामी है" । इसी प्रकार अच्युतानन्ददास अपने शून्य पुराण में ऐसा ही वर्णन करते हैं -

---

1- भागवत् सम्प्रदाय - पृ0 538

2- भक्तिमार्गी बौद्धधर्म - पृ0 68

3- भक्तिमार्गी बौद्धधर्म - पृ0 60

55

शून्यरूपं निराकारं सहस्रविघ्न नाशनम् ।
सर्व्वपर: परो देव तस्मात्त्वं वरदोभव ।।

तू सभी आकार तथा रूप से रहित है और सभी संकटों एवं विघ्नों का नाश करने वाला है, तू सर्वोपरी है और देवताओं का देवता है । इसलिए तू हमें वरदान देने का अनुग्रह कर[1] ।

नागेन्द्र वसु का मानना है कि ये पंच सखा वस्तुत: 16वीं शताब्दी में बौद्धों के "पाँच प्राण" थे अथवा उत्कल के गुप्त बौद्ध-सम्प्रदाय के विशाल प्रासाद के शक्तिशाली स्तम्भ थे । वे त्रिमूर्ति (बुद्ध, धर्म, संघ) को मानते तथा उनके यश का गान करते थे[2] । यद्यपि वे सच्चे बौद्ध थे, बुद्ध की ही परोक्ष रूप में वन्दना करते थे किन्तु ब्राह्मणों एवं हिन्दू राजाओं के उत्पीड़न के भय से स्वयं को वैष्णव रूप में छिपाये हुए थे[3] ।

चैतन्य महाप्रभु के प्रियपात्रों में नित्यानन्द का नाम अग्रणीय है । उन्होंने चैतन्य की आज्ञा से बंगाल में अथवा पूर्वी भारत में वैष्णव धर्म का व्यापक प्रचार किया था । यद्यपि वे स्वयं ब्राह्मण थे किन्तु बाद में अवधूत बन जाने के कारण जाति-प्रथा को नहीं मानते थे । प्रसिद्ध है कि उन्होंने पूर्वी भारत (विशेषकर बंगाल) के अनेक बौद्धों एवं निम्न समझी जानेवाली जाति के लोगों को वैष्णव धर्म की दीक्षा देकर उनका वैष्णवीकरण किया था[4] । ध्यातव्य है कि उत्कल में पंच सखा भी समाज की निम्न श्रेणी में गिने जाने वाले सम्प्रदायों के अन्तर्गत आते थे ।

1- भक्तिमार्गी बौद्ध धर्म - पृ0 40

2- भक्तिमार्गी बौद्ध धर्म - पृ0 153

3- भक्तिमार्गी बौद्ध धर्म - पृ0 153

4- विस्तार के लिए देखिए - भक्तिमार्गी बौद्ध धर्म और देखिए
डी0सी0 सेन, बंगाली लैंग्वेज एण्ड लिट्रेचर - पृ0 567
और देखिए - सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त. भारतीय दर्शन का इतिहास - पृ0 397

कदाचित् वैष्णवीकरण की ऐसी ही किसी प्रक्रिया के अन्तर्गत इन लोगों ने वैष्णव धर्म स्वीकार किया होगा ।

पूर्वी भारत के इन वैष्णव सहजियायों ने बाद में उत्तरी भारत की कृष्ण-भक्ति को विशेष प्रभावित किया । कृष्ण व राधा अथवा कृष्ण व गोपियों के केलि-विलास का जैसा निरूपण आगे चलकर सूरदास, नन्ददास आदि अन्य कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा किया गया, उसका उद्गम इन्हीं सहजिया वैष्णवों के काव्य से प्रारम्भ हो चुका था । चैतन्य महाप्रभु से होता हुआ यह कृष्ण विषयक रागतत्व ब्रजभूमि पहुँचा । चैतन्य बंगाल के ही निवासी थे परन्तु उनके अनुयायी गोस्वामियों ने वृंदावन को ही अपनी उपासना तथा शास्त्र चिन्तन का निकेतन बनाया ।[1] पूर्व की मधुराभक्ति यहाँ आकर कृष्ण-राधा के रास-विलास में थोड़े बहुत अन्तर के साथ ग्रहण कर ली गई । चैतन्य स्वयं कृष्ण के साथ राधा-भाव से प्रेम करते थे ।

इस प्रकार मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य में कृष्ण की भक्ति का जो स्वरूप निश्चित हुआ वह मूल-रूप से इन्हीं वैष्णव सहजियाओं की मधुरोपासना से प्रभावित था वही पुष्टिमार्गीय तथा अन्य कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में आगे चलकर दिखाई दिया । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सहजिया और मध्यकालीन कृष्ण भक्ति के चिन्तन में निम्नलिखित सामान्य लक्षणों का उल्लेख किया है ।[2]

1- प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, मोक्ष नहीं - प्रेमा पुमार्थोमहान् ।
2- भगवान के प्रति प्रेम कौलीन्य से बड़ी चीज है ।
3- भक्त भगवान से बड़ा है ।
4- भक्ति के बिना शास्त्र ज्ञान पांडित्य व्यर्थ है ।
5- नाम रूप से भी बढ़कर है ।

1- आचार्य बलदेव उपाध्याय, भागवत् सम्प्रदाय - पृ0 497
2- दे0 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - सूर साहित्य - पृ0 97-98

जयदेव के गीतों का सूरदास पर व्यापक प्रभाव पड़ा । यहाँ तक कि सूरदास के भजनों में जयदेव के पदों का अनुवाद भी है ।[1] वैष्णवाचार्यों ने कृष्ण-भक्ति में शान्त, दास्य, वात्सल्य सख्य तथा मधुरभाव को प्रमुखता दी, किन्तु कृष्ण भक्तों ने सर्वाधिक प्रमुखता मधुर-रस को अपने काव्य में प्रदान की । कृष्ण के प्रति गोपियों की भक्ति यही "मधुराभक्ति" थी । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भक्ति के निर्णायक ग्रंथों में "गोपीभाव" की भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है ।

माधुर्यभाव को दो भागों में विभाजित किया गया है - ﴾1﴿ स्वकीया भाव, ﴾2﴿ परकीया भाव । "गोपीभाव" परकीया प्रेम है । कृष्ण भक्ति में इस परकीया भाव की ही प्रधानता है ।

भागवत् हो या समस्त मध्यकालीन कृष्ण भक्ति काव्य, प्रायः उसमें माधुर्य भाव ही भक्ति है और यह मधुर भाव भी परकीया प्रेम का है ; कृष्ण एवं गोपिकाओं की मधुर लीलाओं व युगल रूप में उनकी विभिन्न केलि-क्रीडाओं का गुणगान सर्वत्र छाया हुआ है । यद्यपि दास्य-सख्य व वात्सल्य भाव का वर्णन भी सूर आदि ने किया है किन्तु जितनी सफलता से इन कवियों ने कृष्ण-राधा ﴾गोपियों आदि﴿ के संयोग-वियोग अर्थात् रतिभाव का निरूपण किया है वैसा वर्णन अन्य भावों का नहीं किया है । सूर को अवश्य वात्सल्य भाव में अर्थात् कृष्ण के बाल रूप वर्णन में सफलता मिली है किन्तु वात्सल्य भाव भक्ति के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता ।

इस प्रकार महायानी बौद्ध परम्परा से निसृत भक्तिभाव नाना रूपों से गुजरकर जब बौद्ध तांत्रिकों की राग साधना के रूप में सहजयानियों की सहज - साधना का आधार बना तो उसने आगे की वैष्णव चिन्तन धारा को भी पूरी तरह प्रभावित किया । बंगाल के वैष्णव सहजियाओं से होती हुई यह विचार

1- दे० आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - सूर साहित्य - पृ० 95

धारा चैतन्य तक और चैतन्य से उत्कल के पंच सखाओं और अन्य गौड़ सम्प्रदायी चैतन्य के शिष्यों द्वारा उत्तरी भारत अर्थात् वृन्दावन आदि तक पहुँची । वह पूरी तरह सहजयान से प्रभावित थी क्योंकि सहजिया "प्रज्ञा" और "उपाय" यहाँ क्रमशः राधा और कृष्ण के रूप में परिवर्तित हो गये । उनके संयोग के ऐसे-ऐसे रूपक बाँधे गये जो कि ब्राह्मण परम्परा में तांत्रिक प्रभाव से पूर्व नहीं दिखायी देते । इससे पूर्व कहीं भी वैदिक साहित्य में कृष्ण व राधा की रति का अथवा परकीया प्रेम का वर्णन नहीं दिखाई देता । तांत्रिकों की भक्ति रागमार्गी रही । वैदिक परम्परा में उपासना है, भक्ति नहीं, और उपासना में रागतत्व की अपेक्षा श्रद्धा-भाव प्रमुख रहता है । किन्तु मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य में हम जो राग-तत्व पाते हैं वह निश्चित ही तांत्रिक बौद्ध मत का प्रभाव है । जो कि बंगाल में प्रबल रूप में व्याप्त था । कृष्ण अब न गीता के योगीराज-कृष्ण मात्र थे, न महाभारत के कुशल राजनीतिज्ञ । मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य-धारा के कृष्ण रास-बिहारी के रूप में प्रस्तुत किए गये । कृष्ण-राधा रस व रति हैं; अथवा काम व मदन हैं । कृष्ण के छैल-छबीले रूप व प्रेमी रूप को अब प्रमुखता मिली । रास लीलाओं में निमग्न कृष्ण के प्रेम में पूरा ब्रज-मण्डल डूब गया । कृष्ण की बाँसुरी की एक धुन पर गोपियाँ अपना घर-द्वार छोड़, सामाजिक मर्यादाओं की अवहेलना करती हुई अर्द्ध-रात्रि में वन की ओर उनसे मिलने चल पड़ती हैं । इस प्रेम में मर्यादाओं के लिए अवकाश नहीं । कृष्ण उनके सर्वस्व हैं, जिन्हें राग द्वारा ही पाया जा सकता है ।

माना जाता है कि मध्यकालीन कृष्ण भक्ति काव्य श्रीमद्भागवत् पुराण आदि पर आधारित है किन्तु ऐसा मान लेने पर भी उसे ~~वैदिक~~ बौद्ध तांत्रिक प्रभाव से सर्वदा मुक्त नहीं कहा जा सकता । जैसा डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का मानना है कि - 'वाममार्ग के बढ़ते प्रभाव को परवर्ती पुराणों में प्रकारान्तर से स्वीकार कर लिया गया है । विशेष रूप से श्रीमद्भागवत्, ब्रह्मवैवर्त पुराण आदि में कृष्ण

के साथ गोपी रति-विहार का सारा "पैटर्न" तांत्रिक है । वाममार्ग का मार्ग रागसाधना है और रागमार्ग से परमतत्त्व की प्राप्ति होनी चाहिए, जबकि षड्-दर्शनों में सर्वत्र "रागदमन" का उपदेश दिया गया है"।[1] गुप्तकाल में हुए पुराणों के पुन: संस्करणों के पश्चात् उनमें तांत्रिक प्रभावों का आना असम्भव बात नहीं है । वरन् जिस राधा का श्रीमद् भागवत् पुराण में नाम तक नहीं आया है उसी का ब्रह्मवैवर्त पुराण में विशद वर्णन हुआ । वह कृष्ण की शक्ति है जिसके बिना कृष्ण अपूर्ण हैं और कृष्ण के बिना स्वयं राधा भी । एकदम बौद्धों की प्रज्ञोपाय ‡अद्वय‡ का सादृश्य यहाँ कृष्ण-राधा में है । कृष्ण के साथ गोपियों की राग लीलाएं बौद्ध तंत्रों की चक्रपूजा का ही रूपान्तर कही जा सकती है । जिसे कहीं रास व कहीं महारास कहा गया । इस प्रकार बौद्ध सहजयान ने कृष्ण भक्ति के लिए उर्वरक भूमि पहले से ही तैयार की हुई थी ।

‡1‡ सारांश :

अन्तर्बाह्य प्रमाणों से युक्त उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना असंगत न होगा कि मध्यकालीन कृष्ण भक्ति का मूल स्रोत उड़ीसा के वैष्णव सहजियाओं के माध्यम से बौद्ध तांत्रिक रागसाधना है । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी की भी मान्यता है - "वैष्णव धर्म शास्त्रीय धर्म की अपेक्षा लोक-धर्म अधिक है । अन्य सभी अशास्त्रीय या लोक धर्मों - बौद्ध, जैन यहाँ तक कि उपनिषदों के धर्म की भाँति इसकी जन्मभूमि भी बिहार, बंगाल, उड़ीसा के प्रान्त है । वल्लभाचार्य या चैतन्य देव ने ‡चैतन्य के शिष्यों जीव-गोस्वामी एवं रूप-गोस्वामी ने‡ इस लोक धर्म को शास्त्र सम्मत रूप दिया ।[2] बंगाल के इस भक्तिवाद से वल्लभाचार्य के भक्तिवाद का बड़ा मेल है ।[3] ब्रज के लोगों की प्रीति रागात्मिका थी, वह विधि-निषेध से परे थी ।[4] वल्लभाचार्य और सूरदास में सहज-मतवाद का अस्तित्व है।[5]

आगे ऐतिहासिक क्रम के आधार पर चैतन्य महाप्रभु के गौड़ीय सम्प्रदाय पर बौद्ध धर्म का प्रभाव देख लेना प्रासंगिक होगा ।

1- मध्यकालीन हिन्दी काव्य की तांत्रिक पृष्ठभूमि - पृ० 42
2- सूर साहित्य - पृ० 98
3- सूर साहित्य - पृ० 43
4- सूर साहित्य - पृ० 43
5- सूर साहित्य - पृ० 35